सप्त सरिता

काका सा० कालेलकर

सस्ता साहित्य मंडल प्रकाशन

काका सा. कालेलकर

भारत की सात पौराणिक तथा अन्य नदियों और उनके जन्मदाता पर्वतों का सरस एवं ज्ञानवर्द्धक परिचय

•

१९७३

सस्ता साहित्य मण्डल प्रकाशन

प्रकाशक
मार्तण्ड उपाध्याय,
मंत्री, सस्ता साहित्य मण्डल,
नई दिल्ली

पहली बार : १९७३

मुद्रक
नव साहित्य प्रिंटर्स,
दिल्ली

प्रकाशकीय

श्रद्धेय काकासाहब कालेलकर की कई पुस्तकें 'मण्डल' से प्रकाशित हो चुकी हैं। पाठक भली प्रकार जानते हैं कि वह न केवल गांधी-विचारधारा के प्रमुख व्याख्याता हैं, अपितु मौलिक चिन्तक तथा उच्च कोटि के लेखक भी हैं। भारतीय संस्कृति के प्रति उनकी आस्था बड़ी गहरी है और अनेक रूपों में उन्होंने उससे पाठकों को परिचित कराया है।

काकासाहब अपने देश में और संसार में खूब घूमे हैं और इन प्रवासों में उन्हें जो अनुभव हुए हैं, उनको बड़े सुन्दर रूप में लिपिबद्ध करके पाठकों के सामने प्रस्तुत किया है। उनके प्रवास-वर्णन अपने ढंग के निराले हैं।

नदियों के माहात्म्य को सब जानते हैं। काकासाहब ने देश-विदेश की जाने कितनी नदियों के दर्शन किये हैं। उनमें से कुछ नदियों की बड़ी ही सरस, मनोहारी तथा ज्ञानवर्द्धक झांकी पाठकों को इस पुस्तक में मिलेगी। पढ़ते-पढ़ते ऐसा प्रतीत होता है, मानो हम स्वयं विद्वान लेखक के साथ उन स्थानों की यात्रा कर रहे हैं और नदियों के दर्शन से अपने को पवित्र बना रहे हैं।

पुस्तक के नाम आदि के बारे में काकासाहब ने स्वयं अपने निवेदन में लिख दिया है। हम तो केवल इतना ही कहना चाहते हैं कि इस पुस्तक को पढ़कर पाठक यह अनुभव किये बिना नहीं रहेंगे कि उनका देश कितना महान और कितना समृद्धिशाली है। उसके पर्वतों और नदियों ने भारतीय जीवन को कितना सुसंस्कृत एवं सम्पन्न किया है, यह भी किसीसे छिपा नहीं है।

हम आशा करते हैं कि पाठक इस पुस्तक को मनोयोगपूर्वक पढ़ेंगे और इससे अधिक-से-अधिक लाभ लेने का प्रयत्न करेंगे।

—मंत्री

भूमिका

नदी-भक्ति हम भारतीयों की असाधारण विशेषता है। नदियों को हम 'माता' कहते हैं। इन नदियों से ही हमारी संस्कृतियों का उद्गम और विकास हुआ है। नदी देखते ही उसमें स्नान करना, उसके जल का पान करना और हो सके तो उसके किनारे संस्कृति-संवर्धन के लिए दान देना, ये तीनों प्रवृत्तियां नदी-दर्शन के अंग हैं। स्नान, पान और दान के द्वारा ही नदी-पूजा होती है। कई नदी-भक्त पुरोहितों की मदद लेकर नदी देवी की शास्त्रोक्त पूजा करते हैं। उसमें 'नदी का ही पानी लेकर नदी को अभिषेक करना' यह क्रिया भी आ जाती है।

ये नदियां या तो किसी पहाड़ से निकलती हैं या किसी सरोवर से निकलती हैं। दूसरे प्रकार की नदियों को 'सरोजा' कहना चाहिए। तब पहले प्रकार की नदियों को 'गिरिजा' ही कहना पड़ेगा। छोटी नदियां बड़ी नदियों को अपना जल देकर उनमें समा जाती हैं और बड़ी नदियां वह सारा विशाल जल समुद्र को अर्पण करके कृतार्थ होती हैं। इसीलिए समुद्र को अथवा सागर को 'नदीपति' कहने का रिवाज़ है।

हम जैसे नदी-भक्त हैं, वैसे ही पहाड़ों के पूजक भी हैं। हमारे कई उत्तमोत्तम तीर्थ पहाड़ों के आश्रय में बसे हुए हैं और जब किसी नदी का उद्गम भी किसी पहाड़ में से होता है तब तो पूछना ही क्या! वह स्थान पवित्रतम गिना जाता है।

ऐसे पहाड़ों के, ऐसी नदियों के, ऐसे सरोवरों के और ऐसे समुद्रों के नाम कण्ठ करना और पूजा के समय उनका पाठ करना, यह भी बड़ा

पुण्य माना गया है।

जब ऐसे स्थानों के नाम हम कण्ठ करना चाहते हैं तब उनकी संख्या भी हम केवल भक्तिभाव से निश्चित कर देते हैं। एक, तीन, पांच, सात, नौ, दस, बारह, बीस, एक सौ आठ, हजार ये सब हमारे अत्यन्त पुण्यात्मक पवित्र आंकड़े हैं।

हमारी सारी पृथ्वी को हम 'सप्तखण्डा' कहते हैं। 'सप्त-द्वीपा वसुन्धरा' ये शब्द धर्म-साहित्य में आपको जगह-जगह मिलेंगे।

पृथ्वी के खण्ड अगर सात हैं तो उनको घेरनेवाले समुद्र भी सात ही होने चाहिए—सप्त-सागर। फिर तो भारत की प्रधान नदियां भी सात होनी चाहिए। भारत में नदियां भले ही असंख्य हों, लेकिन हम सात नदियों की ही प्रार्थना करेंगे कि हमारे पूजा के कलश में अपना-अपना पानी लेकर उपस्थित रहो। भारत में तीर्थ-क्षेत्र असंख्य हैं, किन्तु हम लोग उनमें से कण्ठ करने के लिए सात ही नाम पसन्द करेंगे और फिर कहेंगे, बाकी के सब तीर्थ-स्थान इन्हींके पेट में समा जाते हैं।

महीने के दिन निश्चित करने का भार सूर्य और चंद्र ने अपने सिर पर ले लिया और दोनों ने मिलकर हमारा द्वादशमासिक वर्ष भी तैयार किया। हमने एक साल के बारह महीने तुरन्त मान्य किये। द्वादश आंकड़ा है ही पवित्र। फिर महीने के दिन हो गए तीस, लेकिन इसमें दिन का हिसाब थोड़ा-थोड़ा कमोबेश करके अमावस्या और पूर्णिमा के दिन संभालने ही पड़ते हैं। एक साल के बारह महीने और हरेक महीने के दो पक्ष, हमने तय नहीं किये। यह व्यवस्था कुद-रत ने ही हमारे लिए तय कर दी। अब पक्ष के दो विभाग करना हमारे हाथ का था। हम लोगों ने सूर्य-चंद्र के साथ पांच ग्रहों को पसन्द करके महीने के चार 'सप्ताह' बना दिये।

हम पूजा में खाने-पीने की चीजें चाहे जितनी रखते होंगे, लेकिन उसके लिए सात धान्यों के ही नाम पसन्द करेंगे।

हम जानते हैं कि नदियों को जन्म देनेवाले बड़े-बड़े आठ पहाड़ हैं। ऐसे पहाड़ों को हम 'कुलपर्वत' कहते हैं। अष्टकुल पर्वत को मान्य किये बिना चारा ही नहीं था, तो भी सप्तद्वीप, सप्तसरिता, सप्तसागर (उनको 'सप्तार्णव' भी कहते हैं.) और सप्तपाताल के साथ पहाड़ों को भी सप्तपर्वत बनना ही पड़ा। सप्तभुवन, सप्तलोक और सप्तपाताल के साथ अपने सूर्य को हमने सात घोड़े भी दिये। हमारी देवियां भी सात। यह तो ठीक, लेकिन गीता, रामायण, भागवत आदि हमारे राष्ट्रीय ग्रन्थों का सार भी हमने सात-सात श्लोकों में ला रख दिया। सप्तश्लोकी गीता, सप्तश्लोकी रामायण और सप्तश्लोकी भागवत कण्ठ करना बड़ा आसान होता है। आसेतु-हिमाचल भारत में तीर्थ की नगरियां असंख्य हैं। ऐसी अनेकानेक नगरियों के माहात्म्य भी लिखे गए हैं। तो भी हम कण्ठ करेंगे :

अयोध्या मथुरा माया काशी कांची अवन्तिका।
पुरी द्वारावती चैव सप्तैता मोक्षदायिकाः॥

(माया याने आज का हरद्वार, पुरी याने जगन्नाथपुरी नहीं, लेकिन द्वारावती ही सातवीं पुरी है।)

भारतीय सांस्कृतिक परंपरा के प्रति हार्दिक निष्ठा अर्पण करके हमने भारतीय नदियों के अपने इस स्मरण को और उनके उपस्थान को 'सप्तसरिता' नाम दिया। बचपन में जब हमने पिताजी के चरणों में बैठकर भगवान् की पूजा-विधि के मंत्र सीख लिये, तब सात नदियों को पूजा के कलश में आकर बैठने की प्रार्थना भी सीख ली थी :

गंगे ! च यमुने ! चैव गोदावरि ! सरस्वति !
नर्मदे ! सिंधु ! कावेरि ! जलेऽस्मिन् सन्निधिं कुरु॥

तब नदी-भक्ति के हमारे इस नये ढंग के स्तोत्र को 'सप्तसरिता' नाम दिये बिना नदियों को संतोष कैसे हो सकता है?

भारत की नदियों में कृष्णा नदी कोई छोटी नदी नहीं है। उसकी लंबाई, उसके पानी की राशि और उसका सांस्कृतिक इतिहास भारत

की किसी भी नदी से कम महत्व का नहीं है। मेरा जन्म इसी नदी के किनारे हुआ। फिर भी ऊपर की सूची में कृष्णा का नाम नहीं है और जिसका रूप और स्थान आजकल कहीं दीख नहीं पड़ता, ऐसी सरस्वती नदी का नाम ऊपर की सूची में मध्यस्थान पर है।

बचपन में और युवावस्था में भी जिसके किनारे मैं खेलता रहा और खेती का परिचय पाने के लिए चलाई हुई मेरी हल चलाने की क्रीड़ा भी जिसने देखी थी, ऐसे छोटे जल-प्रवाह को भले नदी का नाम दो। भारत की सौ-दो-सौ नदियों के नाम में भी जिसको स्थान नहीं मिलेगा, ऐसी छोटी मार्कण्डी नदी को याद किये विना मेरा काम कैसे चलेगा? उसको याद करते, प्रारंभ में ही मैंने कहा "सब नदियों को मैं अपनी माता समझता हूं और मैं उनकी भक्ति भी करता हूं। लेकिन मार्कण्डी को माता नहीं कहूंगा, सखी ही कहूंगा। वह चाहे जितनी छोटी हो, नगण्य हो, मेरी ओर से किये हुए उपस्थान में उस को स्थान होना ही चाहिए। नदियों की फेहरिस्त में नहीं, तो मेरी इस प्रस्तावना में ही, उसे आदर और प्रेम का स्थान दूंगा।

यहां की कुल नदियों की संख्या बारह हो या पन्द्रह, इस किताब का नाम तो 'सप्तसरिता' ही रहेगा और अपने सब नदी-भक्त पूर्वजों की दलील का उपयोग करके कहूंगा कि भारत की सब नदियां इन सातों के भिन्न-भिन्न अवतार ही हैं। सात की संख्या तो कायम ही रहेगी। एक दफे विचार हुआ था कि संख्या सत्रह करके पुस्तक का नाम रखूं—'सप्तदश सरिता'। लेकिन सनातन परंपरा का मैं भक्त, मेरा हृदय 'सप्तसरिता' का नाम छोड़ने को तैयार नहीं हुआ, सो नहीं ही हुआ।

सप्तसरिता की इस आवृत्ति में मेरी भारत-भक्ति ने एक नये विचार का स्वीकार किया है। ये नदियां जब पहाड़ की लड़कियां हैं तो उनके उपस्थान में उनके पिता को भी श्रद्धांजलि मिलनी ही चाहिए।

पुराणों में अष्टकुल पर्वतों की नामावली और उनकी कन्याओं की फेहरिस्त भी दी है। उनका उल्लेख परिशिष्ट में देकर प्रधानतया (१) हिमालय, (२) विंध्य-सतपुड़ा और (३) सह्याद्रि, इन तीन पहाड़ों को ही यहां स्थान दूंगा। (हालांकि महात्मा गांधी का पवित्र सहवास प्राप्त करने के लिए जिस साबरमती नदी के किनारे मैं वर्षों तक रहा, उसके उद्‌गम का पहाड़ पारियात्र (या अरावली) का नाम-निर्देश किये विना चारा ही नहीं।

यह कोई भूगोल की किताब नहीं है, न यह कोई भारत की नदियों और भारत के पहाड़ों के उपलक्ष्य में लिखी हुई निबन्धमाला है। यह तो सिर्फ अपने देश की प्रतिनिधिरूप लोक-माताओं को भक्तिपूर्वक किया हुआ एक तरह का उपस्थान-मात्र है और इन नदियों को सन्तोष हो सके, इस हेतु उनके पिता-स्वरूप भारत के प्रधान तीन-चार पहाड़ों का भक्तिपूर्ण उल्लेख-मात्र है।

हमारे पूर्वजों की नदी-भक्ति आज भी क्षीण नहीं हुई है। आज भी यात्रियों की छोटी-बड़ी मानव-नदियां अपने-अपने स्थान से इन नदियों के उद्‌गम, संगम और समुद्र-मिलन की ओर बह-बहकर उसी प्राचीन भक्ति के उतने ही ताजे, सजीव और जाग्रत होने का प्रमाण दे रही हैं।

हम हृदय से चाहते हैं कि हरेक भक्त-हृदय इन भक्ति के उद्‌गारों को सुनकर प्रसन्न हो और देश के युवकों में अपनी लोकमाताओं का दुग्धपान करके अपनी समृद्ध संस्कृति को, और भी पुष्ट करने की अभिलाषा जाग उठे।

सर्वधर्मी एकादशी,
१३.४.७३

सरिता-पूजक
काका कालेलकर के
भक्तिपूर्ण वंदेमातरम्

अनुक्रम

परिशिष्ट

पहाड़ी नदियों का सांस्कृतिक संदेश

मैं पहाड़ी नदी-पुत्र हूं, इसलिए और संस्कृति-उपासक होने के कारण भी सारस्वत हूं। आज हिमालय-कन्या कोसी, तीस्ता और अन्य अनेक पार्वती नदियों का दर्शन कर उत्तेजित हुआ हूं। नदियां यहां के मनुष्यों को, पशु-पक्षियों को और मत्स्यों को जीवन देती हैं, यह तो है ही, परन्तु यहां के निवासियों का जीवन बनाने में भी इन नदियों का हिस्सा सबसे ज्यादा है। राजा और राज्य आते हैं और जाते हैं। उनके सैन्य और कानून राज्य चलाते हैं, परन्तु लोक-जीवन की स्वामिनियां तो ये पार्वती नदियां ही हैं। जिस दिन विज्ञान और यंत्रविद्या का विकास होगा, उस दिन नदी के प्रवाह में से बिजली पैदा की जायगी। उस बिजली के बल पहाड़, अरण्य काबू में आयेंगे और यहां एक अनोखी संस्कृति का विकास होगा। अनाज की खेती को अपेक्षा फलों के बाग या उपवन अहिंसक संस्कृति के ज्यादा पोषक हैं, यह गांधीजी का विचार इस प्रदेश में सिद्ध होगा। विज्ञान के साथ जीवन की सादगी का विकास हम कर सकेंगे तो मानव-संस्कृति धन्य होगी। विज्ञान भी ईश्वर-दर्शन का साधन हो सकता है, यह सिखानेवाले अध्यात्म का अब हमें विकास करना होगा।

सप्त
सरिता
१

: १ :

नगाधिराज

विदेश में रहनेवाले मनुष्य-मात्र में अपनी जन्म-भूमि का स्मरण, जन्म-भूमि का विरह और वापस जन्म-भूमि में पहुँच जाने की इच्छा हमेशा जाग्रत ही रहती है। बाबर को हिन्दुस्तान की जबरदस्त शहंशाहत मिली और अमृत-सा मीठा आम खाने को मिला, फिर भी उसे मध्य-एशिया के अपने तरबूजों की याद बार-बार आया करती थी। साथ ही, उसकी यह इच्छा भी रही कि चाहे जीते-जी अपनी जन्म-भूमि के दर्शन करना उसके भाग्य में न हो, फिर भी आखिर उसकी हड्डियां तो उस जन्म-भूमि में ही गिरनी चाहिए। हिन्दुस्तान में आकर नवाबी ठाठ से रहनेवाले मामूली अंग्रेज को भी तबतक चैन नहीं पड़ता, जबतक छह महीने की छुट्टी लेकर वह स्वदेश नहीं हो आता। कुछ इसी तरह की उत्कंठा हिमालय के प्रति हिन्दुओं के मन में भी रहती है।

इतिहास-लेखक आर्यों के मूलस्थान के रूप में उत्तर ध्रुव की कल्पना चाहे करें, और भाषाशास्त्री उसका गौरव मध्य-एशिया को चाहे दें, और देशाभिमानी लोग चाहे हिन्दुस्तान को ही आर्यों की आद्यभूमि सिद्ध करें, तो भी अगर

राष्ट्र के हृदय में विराजी हुई प्रेरणा का अपना कोई ऐतिहासिक महत्त्व है, तो हिमालय ही हम आर्यों का आद्यस्थान है। राजा हो या रंक, बूढ़ा हो या जवान, पुरुष हो या स्त्री, हरेक यह अनुभव करता है कि जीवन में अधिक नहीं तो कम-से-कम एक बार तो हिमालय के दर्शन अवश्य ही किये जायं, हिमालय का अमृत-सा जल पिया जाय और हिमालय की किसी विशाल शिला पर बैठकर क्षणभर ईश्वर का ध्यान किया जाय। जब जीवन के सभी करने लायक काम किये जा चुकें, इन्द्रियों की सब शक्तियां क्षीण हो चुकी हों, जीर्ण देह और शेष आयुष्य भार-रूप लगने लगे, तब इस दुनिया-रूपी पराये घर में पड़े न रहकर अपने घर में पहुंचकर मरना ही ठीक है, इस उद्देश्य से कई हिन्दू अन्न-जल का त्याग करके देहपात होने तक हिमालय में ईशान दिशा की ओर बराबर बढ़ते ही चले जाते हैं।

हमारे शास्त्रकार यही मार्ग लिख गए हैं। किसी राजा का राजपाट गया तो वह चला हिमालय की ओर। भर्तृहरि-जैसों को कितना ही वैराग्य क्यों न उत्पन्न हुआ हो, फिर भी हिमालय के विषय में उनका अनुराग अणुमात्र भी कम न होगा। उलटे, वह अधिकाधिक बढ़ता ही जायगा। किसी व्यापारी का दिवाला निकलने की घड़ी आ पहुंचे, किसी सौदागर का सब-कुछ समुद्र में डूब जाय, किसीकी स्त्री कुलटा निकले, किसीकी सन्तान या प्रजा गुमराह हो जाय, बागी हो जाय, किसीके सिर कोई सामाजिक या राजनैतिक संकट आ पड़े, किसीको अपने अधःपतन के कारण समाज में

मुंह दिखाना भारी हो जाय, हालत कैसी भी क्यों न हो, आस्तिक हिन्दू कभी आत्महत्या नहीं करेगा। हिन्दुओं के मन में परम दयालु महादेव के प्रति जितनी श्रद्धा है, उतनी ही श्रद्धा हिमालय के प्रति भी है। पशुपतिनाथ की तरह हिमालय भी अशरण-शरण है। चन्द्रगुप्त ने राष्ट्रोद्धार का चिन्तन हिमालय में जाकर ही किया था। समर्थ रामदास स्वामी को भी राष्ट्रोद्धार की शक्ति हिमालय में ही बजरंगबली रामदूत से प्राप्त हुई थी। यदि पृथ्वी की सतह पर ऐसी कोई जगह है, जहां हिन्दू धर्म का रहस्य अनायास प्रकट होता हो तो वह हिमालय ही है। श्री वेदव्यास ने अपना 'ग्रंथसागर' हिमालय की ही गोद में बैठकर रचा था। श्रीमत् शंकराचार्य ने अपनी विश्व-विख्यात 'प्रस्थानत्रयी' हिमालय में ही लिखी थी और स्वामी विवेकानन्द तथा स्वामी रामतीर्थ ने भी हिमालय में ही इस बात का विचार किया था कि सनातन धर्म के तत्त्व आधुनिक युग पर किस तरह घटाये जायं।[1]

हिमालय—आर्यों का यह आद्यस्थान, तपस्वियों की यह तपोभूमि—पुरुषार्थी लोगों के लिए चिन्तन का एकान्त स्थान, थके-मांदों का विश्राम-स्थल, निराश बने हुओं का सान्त्वना-धाम, धर्म का पीहर, मुमूर्षुओं की अन्तिम दिशा, साधकों की ननिहाल, महादेव का धाम और अवधूत की शय्या है। मनुष्यों को तो ठीक, पशु-पक्षियों को भी हिमालय का अपूर्व

---

१. यहां इस बात का स्मरण हुए बिना नहीं रहता कि गांधीजी ने गीता का अपना अनुवाद 'अनासक्तियोग' भी हिमालय में ही पूरा किया था।

आधार है। सागर से मिलनेवाली अनेक नदियों का वह पिता है। उसी सागर से उत्पन्न बादलों का वह तीर्थस्थान है। कविकुल-गुरु ने 'देवतात्मा नगाधिराज' को पृथ्वी का मानदण्ड जो कहा है, सो अनेक अर्थों में यथार्थ है। हिमालय भूलोक का स्वर्ग और यक्ष-किन्नरों की निवास-भूमि है। वह इतना विशाल है कि उसमें संसार के सभी दुःख समा सकते हैं; इतना शीतल है कि सब प्रकार की चिन्तारूपी अग्नि को वह शान्त कर सकता है; इतना धनाढ्य है कि कुबेर को भी आश्रय दे सकता है और इतना ऊंचा है कि मोक्ष की सीढ़ी बन सकता है। हम ठेठ अपने बचपन से हिमालय का नाम सुनते रहते हैं। बालकथा, बालगीत, प्रवास या यात्रा-वर्णन, इतिहास या पुराण, कहीं भी क्यों न देखें, सर्वत्र अन्तिम आश्रय तो हिमालय का ही मिलेगा। बचपन से जो आदर्श रमणीय स्थान कल्पना-सृष्टि में प्रत्यक्ष हुआ होगा, उसकी कल्पना हिमालय से ही आई होगी।

अरे, इस हिमालय ने क्या-क्या नहीं देखा! पृथ्वी के असंख्य भूकम्पों और आकाश के हजारों धूमकेतुओं को उसने अपलक भाव से देखा है। महादेव के विवाह उसीने करवाये हैं। सती के विहार का और कुमारसम्भव का कौतुक उसीने अपत्य-वात्सल्य से किया है। भगीरथ तक की रघुकुल की अनेक पीढ़ियों की कठिन तपस्याओं का वह साक्षी रहा है। पाण्डवों की महायात्रा उसीने सफल की है। लेकिन ये पुरानी बातें क्यों दोहराई जायं? सन् सत्तावन के पराक्रम में पराजित होने के कारण जो वीर और मुत्सद्दी हताश और निराश

हो गए थे, उन्हें आश्रय देनेवाला हिमालय ही है। यदि भूस्तर-शास्त्र की दृष्टि से देखना हो, प्राणिशास्त्र की दृष्टि से विचार करना हो, ऐतिहासिक दृष्टि से शोध करनी हो, भव्यता के दर्शन करने हों, धर्म-तत्त्वों की गांठ सुलझाने का प्रयत्न करना हो, तो हिमालय ही वह जगह है जहां सब प्रकार से आपका समाधान हो सकता है, क्योंकि हिमालय आर्यावर्त के एक-एक युग के पुरुषार्थों का साक्षी रहा है—वह यह सब जानता है।

यह कहना कठिन है कि हिमालय जाने की पहली इच्छा मेरे हृदय में कब पैदा हुई। शायद मेरे जन्म के साथ ही वह भी जन्मी होगी। जैसाकि ऊपर कह चुका हूं, बहुत संभव है कि वह वंश-परम्परागत राष्ट्रीय भावना रही हो। जब यात्रा का विचार करते हैं, तो मन में यह खयाल पैदा होता है कि हम अपना घर छोड़कर परदेश जा रहे हैं। पर जब-जब भी मैंने हिमालय जाने का विचार किया है, तब-तब मेरे मन में यही भावना प्रबल रूप से उठी है कि मैं स्वदेश जानेवाला हूं, नहीं-नहीं, स्वगृह जानेवाला हूं—और इस विचार ने मेरे मन को हमेशा गुदगुदाया है। आज भी जब कोई हिमालय की बात छेड़ता है, तो मुझे उतना ही आनन्द होता है, जितना ससुराल में रहनेवाली बहू को मायके की बात सुनकर हुआ करता है। लड़की जब मायके से दूर जा पड़ती है तो वह दिन-रात अपने मायके को और मायकेवालों को ही बिसूरा करती है। इस बिसूरने का नतीजा यह होता है कि मायके का प्रत्यक्ष चित्र एक ओर रह जाता है और वह अपने मन में

एक प्रेमचित्र का निर्माण कर लेती है। उसके अपने लिए यह प्रेमचित्र ही एक यथार्थ वस्तु बन जाता है। बिसूरने का, चिन्तन का, गुण ही यह है कि दिल जिस चीज़ को जैसी देखना चाहता है, दिल की भावना कुछ ऐसी बन जाती है कि वह चीज वैसी ही मालूम होनें लगती है। दुनिया में किसी को यथार्थ—यथातथ—ज्ञान होता हो तो भले हो, पर जिसे हम अनुभव का प्रत्यक्ष ज्ञान कहते हैं, उस पर भी हमारी इन्द्रियों का रंग चढ़ा ही रहता है, वह निरा ज्ञान नहीं होता। प्रेमचित्र में रंग इन्द्रियों का नहीं, हृदय का होता है, आदर्श भावनाओं का होता है और इसी कारण वह चित्र हमारे जी को विशेष निकट का और विशेष रूप से सच्चा प्रतीत होता है। तर्कवादी चाहे जिस चित्र को खोटा मानें, पर संसार का अनुभव और संसार का रहस्य सभी कुछ तर्क की छलनी में चाला नहीं जा सकता। तर्क सोचता है कि मैंने जो व्यवस्था बांध दी है, जो क्रम तय कर दिया है, दुनिया को वह मानना ही चाहिए; जो मेरे गले नहीं उतरता, वह सत्य हो ही नहीं सकता।

हिमालय के जो भी शब्दचित्र मैं दूं, वे प्रेमचित्र ही होंगे। जिस वस्तु से प्रेम हो जाता है, उस वस्तु का प्रेम-रहित विचार हो ही नहीं सकता। इसलिए मुझसे प्रेमचित्र छोड़कर दूसरी किसी चीज़ की अपेक्षा कोई रखे ही क्यों!

१९२४

: २ :

हिमालय की पार्वती नदियां

चन्द नदियां पहाड़ों से निकलती हैं और चन्द नदियां सरोवरों से बहने लगती हैं। पर्वतों से जन्म पानेवाली नदियों को पार्वती या शैलजा कहते हैं। जो सरोवरों से जन्म लेती हैं, वे हैं सरोजा। हिमालय के उस पार दो बहुत बड़े और अत्यन्त पवित्र सरोवर हैं। एक का नाम है मानस-सरोवर, दूसरे का राकसताल या रावण-ह्रद। इन सरोवरों से निकलने-वाली नदियों को सरोजा ही कहना पड़ेगा। यों देखा जाय, तो हिमालय की सभी नदियों को पार्वती नाम दिया जा सकता है। नदियां यानी अप्सरा। पहाड़ों से अप् यानी पानी जब सरने लगता है, बहने लगता है, दौड़ने लगता है, तब उस प्रवाह को जिस तरह हम आप-गा या नदी कहते हैं, उसी प्रकार उसे 'अप्सरा' कहने में भी कोई आपत्ति नहीं है। पार्वती और सरोजा अप्सराओं के दो स्वतंत्र कुल कहे जा सकते हैं। यह सारा विचार नया है, लेकिन उससे कल्पना को अच्छी चालना मिल सकती है।

हिमालय कहते ही जिस तरह गंगा और यमुना ये दोनों प्रमुख नदियां पहले ध्यान में आती हैं, उसी प्रकार हिमालय का आदरपूर्वक चक्कर काटकर, हिमालय के उत्तर की तरफ

का सारा पानी, एक बूंद भी बेकार न जाने देने तथा दक्षिण की ओर हिन्दुस्तान में लाकर छोड़नेवाली इन नदियों का भी स्मरण हुए बिना नहीं रहता। इन नदियों का माहात्म्य इतना अधिक है कि हमारे पूर्वजों ने इन्हें नदी कहने के बजाय नद कहना तय किया। सिन्धु और ब्रह्मपुत्र— ये दो नद मानस-सरोवर और रावण-ह्रद के परिसर में से निकलकर दो भिन्न-भिन्न दिशाओं में बहने लगते हैं। सिंधु-नद पश्चिम की ओर जाकर, हिमालय का चक्कर काटकर, हिन्दुस्तान में ही (अब पाकिस्तान में) दक्षिण की ओर बहने लगता है। ब्रह्मपुत्र, जिसका तिब्बती नाम 'सांग्पो' है, पूर्व की तरफ दूर तक दौड़ लगाकर फिर एक गहन कांतार (अरण्य) में प्रवेश करता है और आखिर असम देश में प्रकट होता है। यह प्रदेश सच-मुच देखने लायक है। हाथ की उंगलियां फैलाने पर उनका जिस प्रकार पंखा बनता है, उस प्रकार असम प्रदेश में सदिया गांव के आस-पास लोहित, डिहंग, सुबनसेरी आदि अनेक नदियों के प्रवाह, पंखे की उंगलियों के समान, ब्रह्मपुत्र में आकर मिलते हैं।

वहां पंजाब की तरफ स्वात, कुभू (काबुल) आदि नदियों का पानी साथ लेकर सिंधुनद पंजाब में प्रवेश करता है और फिर कश्मीर या मिट्टनकोट तक जेहलम, चिनाब, रावी, व्यास और सतलज इन नदियों के पानी से बननेवाला पंचनद कब आकर अपने में समा जाता है, इसकी राह देखता दौड़ता है। यह संगम भी अद्भुत रम्य है।

आज हमने सिंधु और ब्रह्मपुत्र दोनों नाम स्त्रीलिंग बना

दिये हैं और ब्रह्मपुत्र को 'ब्रह्मपुत्रा' कहने लगे हैं।

कुछ भी हो, इतने बड़े प्रचंड हिमालय को मानो अपने भुजपाश में लेने के लिए भारतमाता ने सिंधु और ब्रह्मपुत्र ये अपने दो बाहु लम्बे फैलाकर फिर एकमेक कर जोड़ दिये हैं। उनके इस भव्य काव्य का चिंतन करते मानवीय मन करीब-करीब समाधिस्थ हो जाता है। सिंधु और ब्रह्मपुत्रा—ये प्रौढ़ कन्यकाएं हिमालय का चक्कर काटती हैं। इसके विपरीत उसकी दो अल्हड़ लड़कियां कहती हैं, "हम आदर-वादर कुछ नहीं जानतीं। हमें हिमालय के उस पार का जल लेकर हिन्दुस्तान में प्रवेश करना है। पिताजी को हमें राह देनी ही पड़ेगी।" छोटी और लाड़ली लड़कियां हमेशा शरीर (उधम मचाने वाली) ही होती हैं। उन्होंने अपना सीधा मार्ग ढूंढ़ निकालकर, वृद्ध हिमालय को बिलकुल आर-पार छेदकर, दक्षिण की तरफ आने का निश्चय किया। अपत्य-वत्सल हिमालय करता भी क्या ? उनकी बात मान गया और दबकर उसने लड़कियों को राह दे दी। सतलज और घाघरा ही हैं वे दो लड़कियां। इनका उद्गम भी मानस-सरोवर और रावण-ह्रद के परिसर में ही होता है। घाघरा को ही रामायण में सरयू कहा है। इसका उद्गम भी उसके नाम के अनुसार किन्हीं सरोवरों में से ही होने की संभावना है।

मैंने हिमालय का सारा प्रदेश किसी-न-किसी समय आंख भर देख लिया है। हिमालय के वायव्य में अबट्टाबाद और कश्मीर-श्रीनगर से लेकर ठेठ उत्तर-पूर्व की तरफ सदिया

श्रौर परशुराम कुण्ड तक का सारा प्रदेश मैंने अपनी आंखों से देख लिया है। जहां मेरे पैर या आंखें पहुंच नहीं पाईं, वहां कल्पना की मदद से विहंगावलोकन किया है और अब तो इस काम में फोटोग्राफी की उत्कृष्ट सहायता होती रहती है। इस प्रदेश में असंख्य नदियां वक्र गतियों से बहती रहती हैं। जगह न मिले या बहुत संकरी हो, तो वे कुछ ऐसी चिढ़ जाती हैं कि उनका वह हुलिया देखकर दिल में प्रेम ही उमड़ आता है!

समतल भूमि पर आहिस्ता, बिलकुल शांति से, बहनेवाली नदियां हिन्दुस्तान में असंख्य हैं। उनकी शोभा अलग प्रकार की है। उनका दर्शन करने के लिए हमें किसान की दृष्टि धारण करनी चाहिए और जरूरत के मुताबिक छोटी-बड़ी नहरें निकालने का पुरुषार्थ भी करना चाहिए; लेकिन हिमालयीन नदियों की बात अलग है। उनके किनारे पहुंचकर उनके पवित्र जल का आचमन करने के लिए भी २००-४०० फुट नीचे उतरना पड़ता है। फिर, कहां की खेती और कहां की नहरें!

कोई ऐसा न मान बैठे कि सिन्धु और ब्रह्मपुत्र, गंगा और यमुना, सरयू और सतलज इनके नाम लेने पर हिमालय की मुख्य नदियां पूरी हुईं। विहार की पुरानी और नई दो नदियों—गंडक और तूफानी कोसी—इनका नाम भी आदर के साथ ही लेना पड़ता है, लेकिन मेरी अत्यन्त प्रिय नदी है तीस्ता। यह नदी सिक्किम की तरफ के कांचन-जोंगा या पंचहिमाकर पर्वत के हिम-प्रपात से बनती है और दक्षिण

की तरफ वहते-वहते ब्रह्मपुत्र में आ मिलती है । इसमें आकर मिलनेवाली रंगपो और रंगीत आदि अनेक नदियों के संगम मैंने देखे हैं । नदियों का संगम यानी दो भिन्न रंगों का विलास, । यह वात मानो निश्चित ही हो गई है । दो नदियों का जल एकमेक से मिल जाने से पहले वहुत समय तक खेल करता रहता है । गंगा-यमुना के मिलनोत्सव का वर्णन कालिदास ने इतना लम्बा-चौड़ा किया है कि हमें महसूस होने लगता है कि मानो हम एक नदी में ही तैर रहे हैं ।

गंगा के वारे में भारतीयों की भक्ति ध्यान में रखकर हम उसे भारतमाता कहते हैं, लेकिन वास्तव में वह भारतीयों के पुरुषार्थ से वनी हुई भारतकन्या है । गंगा, यानी भागीरथी, अलकनन्दा, मंदाकिनी आदि अनेक प्रवाहों के अनेक संगम । हरेक संगम को 'प्रयाग' कहा जाता है । ऐसी गंगा का जव यमुना के साथ संगम होता है, तव उस स्थान को हमारे पुरखाओं ने प्रयागराज का गौरवपूर्ण नाम दिया है ।

हमारी नदियां—यानी हमारा पौराणिक इतिहास और इतिहास-कालीन पुरुषार्थ । हिमालय की तमसा का नाम लेते ही विश्वामित्र का स्मरण होगा ही । यमुना कहते ही वृन्दावन-विहारी श्रीकृष्ण और कुरुक्षेत्र पर के गीतागायक जगद्गुरु उभय विभूतियों का स्मरण होना अपरिहार्य है । सरयू, यानी प्रभु रामचंद्र की करुण कथा । सप्तसिंधु के किनारे वैदिक आर्यों ने महान पुरुषार्थ किये । युद्ध और

यज्ञ उनके पुरुषार्थ की दो धाराएं थीं, और गंगा तो भगीरथ से लेकर ठेठ कबीर तक भारतीय संस्कृति के सब प्रतिनिधियों की प्रवृत्तियों का प्रवाह। बिलकुल दूर-दूर उत्तर-पूर्व ईशान में लोहित ब्रह्मपुत्र के उद्गम के पास जाने पर वहां परशुराम का कुण्ड देखने को मिलता है। इक्कीस बार ब्राह्मण-क्षत्रियों का आत्मघातक झगड़ा चला, पर थक जाने के बाद इस स्थान पर उपरत परशुराम के हाथ से उसकी कुल्हाड़ी छूट गई और उसको शान्ति मिली। गीता का उपदेश सुनानेवाली यमुना के किनारे शान्ति का वही पाठ गांधीजी के बलिदान के रूप में आज हमें सुनाई देता है।

हिमालय के हिमधवल शिखरों ने शांति का जो सूचन किया, उसे ही ऋषि-मुनियों ने हिमालय के अपने आश्रमों में बैठकर किये हुए चिंतन में विकसित किया और उसी निर्वैरता के, अहिंसा के सन्देश का अनेक युद्धों के अन्त में भारतीयों ने अपने विषादपूर्ण अन्तःकरणों में अनुभव किया। हिमालय की सब नदियां इस विविध शांति की साक्षी हैं और हमें अपना इतिहास-सिद्ध शांति-गीत अखण्ड रूप से सुना रही हैं।

: ३ :

गंगामैया

गंगा कुछ भी न करती, सिर्फ देवव्रत भीष्म को ही जन्म देती, तो भी आर्यजाति की माता के तौर पर वह आज प्रख्यात होती। पितामह भीष्म की टेक, भीष्म की निस्पृहता, भीष्म का ब्रह्मचर्य और भीष्म का तत्त्वज्ञान हमेशा के लिए आर्यजाति का आदरपात्र ध्येय बन चुका है। हम गंगा को आर्य-संस्कृति के ऐसे आधारस्तंभ महापुरुष की माता के रूप में पहचानते हैं।

नदी को यदि कोई उपमा शोभा देती है, तो वह माता की ही। नदी के किनारे पर रहने से अकाल का डर तो रहता ही नहीं। मेघराजा जब धोखा देते हैं तब नदीमाता ही हमारी फसल पकाती है। नदी का किनारा यानी शुद्ध और शीतल हवा। नदी के किनारे-किनारे घूमने जायं तो प्रकृति के मातृवात्सल्य के अखंड प्रवाह का दर्शन होता है। नदी बड़ी हो, और उसका प्रवाह धीर-गंभीर हो, तब तो उसके किनारे पर रहनेवालों की शान-शौकत उस नदी पर ही निर्भर करती है। सचमुच नदी जनसमाज की माता है। नदी-किनारे बसे हुए शहर की गली-गली में घूमते समय एकाध कोने से नदी का दर्शन हो जाय, तो हमें कितना आनन्द होता है!

कहां शहर का वह गंदा वायुमंडल और कहां नदी का यह प्रसन्न दर्शन ! दोनों के बीच का फ़र्क फौरन ही मालूम हो जाता है। नदी ईश्वर नहीं है, बल्कि ईश्वर का स्मरण करानेवाली देवता है। यदि गुरु को वंदन करना आवश्यक है तो नदी को भी वंदन करना उचित है।

यह तो हुई सामान्य नदी की बात, किन्तु गंगामैया तो आर्य-जाति की माता है। आर्यों के बड़े-बड़े साम्राज्य इसी नदी के तट पर स्थापित हुए हैं। कुरु-पांचाल देश का अंग-वंगादि देशों के साथ गंगा ने ही संयोग किया है। आज भी हिन्दुस्तान की आबादी गंगा के तट पर ही सबसे अधिक है।

जब हम गंगा का दर्शन करते हैं तब हमारे ध्यान में फसल से लहलहाते सिर्फ खेत ही नहीं आते, न सिर्फ माल से लदे जहाज ही आते हैं, बल्कि वाल्मीकि का काव्य, बुद्ध-महावीर के विहार, अशोक, समुद्रगुप्त या हर्ष-जैसे सम्राटों पराक्रम और तुलसीदास या कबीर-जैसे संतजनों के भजन—इन सबका एक साथ ही स्मरण हो आता है। गंगा का दर्शन तो शैत्य-पावनत्व का हार्दिक तथा प्रत्यक्ष दर्शन है।

किन्तु गंगा के दर्शन का एक ही प्रकार नहीं है। गंगोत्री के पास के हिमाच्छादित प्रदेशों में इसका खिलाड़ी कन्यारूप, उत्तरकाशी की ओर चीड़-देवदार के काव्यमय प्रदेश में मुग्धा रूप, देवप्रयाग के पहाड़ी और संकरे प्रदेश में चमकीली अलकनंदा के साथ इसकी अठखेलियां, लक्ष्मण-झूले को विकराल दंष्ट्रा में से छूटने के बाद हरद्वार के पास उसका अनेक धाराओं में स्वच्छंद विहार, कानपुर से सटकर जाता हुआ

उसका इतिहास-प्रसिद्ध प्रवाह, प्रयाग के विशाल पट पर हुआ उसका कालिन्दी के साथ का त्रिवेणी-संगम—हरेक की शोभा कुछ निराली ही है। एक दृश्य देखने पर दूसरे की कल्पना नहीं हो सकती। हरेक का सौंदर्य अलग, हरेक का भाव अलग, हरेक का वातावरण अलग, हरेक का माहात्म्य अलग !

प्रयाग से गंगा अलग ही स्वरूप धारण कर लेती है। गंगोत्री से लेकर प्रयाग तक की गंगा वर्धमान होते हुए भी एकरूप मानी जा सकती है। किन्तु प्रयाग के पास उससे यमुना आकर मिलती है। यमुना का तो पहले से ही दोहरा पाट है। वह खेलती है, कूदती है, किन्तु क्रीड़ासक्त नहीं मालूम होती। गंगा शकुंतला-जैसी तपस्वी कन्या दीखती है। काली यमुना द्रौपदी-जैसी मानिनी राजकन्या मालूम होती है। शर्मिष्ठा और देवयानी की कथा जब हम सुनते हैं, तब भी प्रयाग के पास गंगा और यमुना के बड़ी कठिनाई के साथ मिलते हुए शुक्ल-कृष्ण प्रवाहों का स्मरण हो आता है। हिन्दुस्तान में अनगिनत नदियाँ हैं, इसलिए संगमों का भी कोई पार नहीं है। इन सभी संगमों में हमारे पुरखों ने गंगा-यमुना का यह संगम सबसे अधिक पसन्द किया है, और इसीलिए उसका 'प्रयागराज' जैसा गौरवपूर्ण नाम रखा है। हिन्दुस्तान में मुसलमानों के आने के बाद जिस प्रकार हिन्दुस्तान के इतिहास का रूप बदला, उसी प्रकार दिल्ली-आगरा और मथुरा-वृन्दावन के समीप से आते हुए यमुना के प्रवाह के कारण गंगा का स्वरूप भी प्रयाग के बाद बिल्कुल ही बदल गया है।

प्रयाग के बाद गंगा कुलवधू की तरह गंभीर और सौभाग्यवती दीखती है। इसके बाद उसमें बड़ी-बड़ी नदियां मिलती जाती हैं। यमुना का जल मथुरा-वृन्दावन से श्रीकृष्ण के संस्मरण अर्पण करता है, जबकि अयोध्या होकर आनेवाली सरयू आदर्श राजा रामचंद्र के प्रतापी किन्तु करुण जीवन की स्मृतियां लाती है। दक्षिण की ओर से आनेवाली चंबल नदी रंतिदेव के यज्ञ-याग की बातें करती है, जब कि महान कोलाहल करता हुआ शोणभद्र गज-ग्राह के दारुण द्वंद्व-युद्ध की झांकी कराता है। इस प्रकार हृष्ट-पुष्ट बनी हुई गंगा पाटलिपुत्र के पास मगध साम्राज्य-जैसी विस्तीर्ण हो जाती है। फिर भी गंडकी अपना अमूल्य कर-भार लाते हुए हिचकिचाई नहीं। जनक और अशोक की, बुद्ध और महावीर की प्राचीन भूमि से निकलकर आगे बढ़ते समय गंगा मानो सोच में पड़ जाती है कि अब कहां जाना चाहिए। जब इतनी प्रचंड वारि-राशि अपने अमोघ वेग से पूर्व की ओर बह रही हो, तब उसे दक्षिण की ओर मोड़ना क्या कोई आसान बात है? फिर भी वह उस ओर मुड़ गई है। दो सम्राट् या दो जगद्गुरु जैसे एकाएक एक-दूसरे से नहीं मिलते, वैसा ही गंगा और ब्रह्मपुत्र का हाल है। ब्रह्मपुत्र हिमालय के उस पार का सारा पानी लेकर आसाम से होती हुई पश्चिम की ओर आती है, और गंगा इस ओर से पूर्व की ओर बढ़ती है। उनकी आमने-सामने भेंट कैसे हो? कौन किसके सामने पहले झुके? कौन किसे पहले रास्ता दे? अंत में दोनों ने तय किया कि दोनों को 'दाक्षिण्य' धारण कर सरित्पति के

दर्शन के लिए जाना चाहिए और भक्ति-नम्र होकर जाते-जाते जहां संभव हो, रास्ते में एक-दूसरे से मिल लेना चाहिए।

इस प्रकार गोआलंदो के पास जब गंगा और ब्रह्मपुत्र का विशाल जल आकर मिलता है तब मन में संदेह पैदा होता है कि सागर और क्या होता होगा ? विजय प्राप्त करने के बाद कसी हुई खड़ी सेना भी जिस प्रकार अव्यवस्थित हो जाती है और विजयी वीर मन में आये वैसे जहां-तहां घूमते हैं उसी प्रकार का हाल इसके बाद इन दो महान नदियों का होता है। अनेक मुखों द्वारा वे सागर से जाकर मिलती हैं। हरेक प्रवाह का नाम अलग-अलग है और कुछ प्रवाहों के तो एक से भी अधिक नाम हैं। गंगा और ब्रह्मपुत्र एक होकर पद्मा का नाम धारण करती हैं। यही आगे जाकर मेघना के नाम से पुकारी जाती है।

यह अनेकमुखी गंगा कहां जाती है ? सुन्दरवन में बेंत के झुण्ड उगाने ? या सगर-पुत्रों की वासना को तृप्त कर उनका उद्धार करने ? आज जाकर आप देखेंगे तो यहां पुराने काव्य का कुछ भी शेष नहीं होगा। जहां देखो, वहां पटसन की बोरियां बनानेवाली मिलें और ऐसे ही दूसरे बेहूदे वि-श्री कल-कारखाने दीख पड़ेंगे। जहां से हिन्दुस्तानी कारीगरी की असंख्य वस्तुएं हिन्दुस्तानी जहाजों से लंका या जावा द्वीप तक जाती थीं, उसी रास्ते से अब विलायती और जापानी अगिन-बोटें, विदेशी कारखानों में बना हुआ भद्दा माल हिन्दुस्तान के बाजारों में भर डालने के लिए, आती हुई दिखाई देती हैं। गंगामैया पहले ही की तरह हमें

अनेक प्रकार की समृद्धि प्रदान करती जाती है, किन्तु हमारे निर्बल हाथ उसको उठा नहीं सकते !

प्यारी गंगामैया ! यह दृश्य देखना तेरी किस्मत में कबतक बदा है ?

फरवरी, १९२६

: ४ :

यमुनारानी

हिमालय तो भव्यता का भंडार ही है। जहां-तहां भव्यता को बिखेरकर भव्यता की भव्यता को कम करते रहना ही मानो हिमालय का व्यवसाय है। फिर भी ऐसे हिमालय में एक ऐसा स्थान है, जिसकी ऊर्जस्विता हिमालय-वासियों का भी धयन खींचती है। यह है यमराज की बहन यमुना का उद्गम-स्थान।

ऊंचाई से बर्फ पिघलकर एक बड़ा प्रपात गिरता है। इर्द-गिर्द गगनचुम्बी नहीं, बल्कि गगनभेदी पुराने वृक्ष आड़े गिरकर गल जाते हैं। उत्तुंग पहाड़ यमदूतों की तरह रक्षण करने के लिए खड़े हैं। कभी पानी जमकर बर्फ बन जाता है, और कभी बर्फ पिघलकर उसका बर्फ के जितना ठंडा पानी बन जाता है। ऐसे स्थान में जमीन के अन्दर से एक अद्भुत ढंग से उबलता हुआ पानी उछलता रहता है। जमीन के भीतर से ऐसी आवाज निकलती है मानो किसी वाष्पयंत्र से क्रोधायमान भाप निकल रही हो, और उन झरनों से सिर से भी ऊंची उड़ती बूंदें इतनी सरदी में भी मनुष्य को झुलसा देती हैं। ऐसे लोक-चमत्कारी स्थान में असित ऋषि ने यमुना का मूल स्थान खोज निकाला। इस स्थान में शुद्ध

जल से स्नान करना असंभव-सा है। ठंडे पानी में नहायें तो ठंडे पड़ जायंगे और गरम पानी में नहायें तो वहीं-के-वहीं आलू की तरह उबलकर मर जायंगे। इसीलिए वहां मिश्र जल के कुण्ड तैयार किये गए हैं। एक झरने के ऊपर एक गुफा है। उसमें लकड़ी के पटिये डालकर सो सकते हैं। हां, रात-भर करवट बदलते रहना चाहिए, क्योंकि ऊपर की ठंड और नीचे की गरमी, दोनों एक-सी असह्य होती हैं।

दोनों बहनों में गंगा से यमुना बड़ी है, प्रौढ़ है, गंभीर है, कृष्णभगिनी द्रौपदी के समान कृष्णवर्णा और मानिनी है। गंगा तो मानो बेचारी मुग्ध शकुंतला हो ठहरी, पर देवाधिदेव ने उसका स्वीकार किया, इसलिए यमुना ने अपना बड़प्पन छोड़कर, गंगा को ही अपनी सरदारी सौंप दी। ये दोनों बहनें एक-दूसरे से मिलने के लिए बड़ी आतुर दिखाई देती हैं। हिमालय में तो एक जगह दोनों करीब-करीब आ जाती हैं, किन्तु विघ्नसंतोषी की तरह ईर्ष्यालु दंडाल पर्वत के बीच में आड़े आने से उनका मिलन वहां नहीं हो पाता। एक काव्यहृदयी ऋषि वहां यमुना के किनारे रहकर हमेशा गंगास्नान के लिए जाया करता था, किन्तु भोजन के लिए वापस यमुना के ही घर आ जाता था। जब वह बूढ़ा हुआ—ऋषि भी अंत में बूढ़े होते हैं— तब उसके थके-मांदे पांवों पर तरस खाकर गंगा ने अपना प्रतिनिधिरूप एक छोटा-सा झरना यमुना के तीर पर ऋषि के आश्रम में भेज दिया। आज भी वह छोटा-सा सफेद प्रवाह उस ऋषि का स्मरण कराता हुआ वहां बह रहा है।

देहरादून के पास भी हमें आशा होती है कि ये दोनों एक-दूसरे से मिलेंगी। किन्तु नहीं, अपने शैत्य-पावनत्व से अंतर्वेदी के समूचे प्रदेश को पुनीत करने का कर्तव्य पूरा करने के पहले उन्हें एक-दूसरे से मिलकर फुरसत की बातें करने की सूझती ही कैसे ? गंगा तो उत्तरकाशी, टेहरी, श्रीनगर, हरिद्वार, कन्नौज, ब्रह्मावर्त, कानपुर आदि पुराण-पवित्र और इतिहास-प्रसिद्ध स्थानों को अपना दूध पिलाती हुई दौड़ती है। जबकि यमुना कुरुक्षेत्र और पानीपत के हत्यारे भूमि-भाग को देखती हुई भारतवर्ष की राजधानी के पास आ पहुंचती है। यमुना के पानी में साम्राज्य की शक्ति होनी चाहिए। उसके स्मरण-संग्रहालय में पांडवों से लेकर मुगल-साम्राज्य तक का और गदर के ज़माने से लेकर स्वामी श्रद्धानंदजी की हत्या तक का सारा इतिहास भरा पड़ा है। दिल्ली से आगरे तक ऐसा मालूम होता है, मानो बाबर के खानदान के लोग ही हमारे साथ बातें करना चाहते हों। दोनों नगरों के किले साम्राज्य की रक्षा के लिए नहीं, बल्कि यमुना की शोभा निहारने के लिए ही मानो बनाये गए हैं। मुगल-साम्राज्य के नगारे तो कब के बंद हो गये, किन्तु मथुरा-वृन्दावन की बांसुरी अब भी बज रही है।

मथुरा-वृन्दावन की शोभा कुछ अपूर्व ही है। यह प्रदेश जितना रमणीय है, उतना ही समृद्ध है। हरियाने की गौएं अपने मीठे, सरस, सकस दूध के लिए हिन्दुस्तान भर में मशहूर हैं। यशोदामैया ने या गोपराजा नन्द ने खुद यह स्थान पसंद किया था, इस बात को तो मानो यहां की भूमि भूल

ही नहीं सकती। मथुरा-वृन्दावन तो है बालकृष्ण की क्रीड़ा-भूमि, वीर कृष्ण की विक्रम-भूमि। द्वारकावास को यदि छोड़ दें तो श्रीकृष्ण के जीवन के साथ अधिक-से-अधिक सहयोग कालिन्दी ने ही किया है। जिस यमुना ने कालियमर्दन देखा, उसी यमुना ने कंस का शिरच्छेद भी देखा। जिस यमुना ने हस्तिनापुर के दरबार में श्रीकृष्ण की सचिव-वाणी सुनी, उसी यमुना ने रण-कुशल श्रीकृष्ण की योगमूर्ति कुरुक्षेत्र पर विचरती निहारी। जिस यमुना ने वृन्दावन की प्रणय-बांसुरी के साथ अपना कलरव मिलाया, उसी यमुना ने कुरु-क्षेत्र पर रोमहर्षक गीतावाणी को प्रतिध्वनित किया। यम-राज की बहन का भाईपन तो श्रीकृष्ण को ही शोभा दे सकता है।

जिसने भारतवर्ष के कुल का कई बार संहार देखा है, उस यमुना के लिए पारिजात के फूल के समान ताजबीबी का अवसान कितना मर्मभेदी हुआ होगा? फिर भी उसने प्रेमसम्राट् शाहजहां के जमे हुए संगेमरमरी आंसुओं को प्रति-बिंबित करना स्वीकार कर लिया है।

भारतीय काल से मशहूर वैदिक नदी चर्मण्वती से कर-भार लेकर यमुना ज्योंही आगे बढ़ती है, त्योंही मध्ययुगीन इतिहास की झांकी करानेवाली नन्ही-सी सिन्धु नदी उससे आ मिलती है।

अब यमुना अधीर हो उठी है। कई दिन हुए, बहन गंगा का दर्शन नहीं हुआ है। कहने-जैसी बातें पेट में समाती नहीं हैं। पूछने के लिए असंख्य सवाल भी इकट्ठे हो गए हैं।

कानपुर और कालपी वहुत दूर नहीं हैं। यहां गंगा की खबर पाते ही खुशी से वहां की मिश्री से मुंह मीठा बनाकर यमुना ऐसी दौड़ी कि प्रयागराज में गंगा के गले से लिपट गई। क्या दोनों का उन्माद ! मिलने पर भी मानो उनको यकीन नहीं होता कि वे मिली हैं। भारतवर्ष के सब-के-सब साधु-संत इस प्रेम-संगम को देखने के लिए इकट्ठे हुए हैं, पर इन बहनों को उसकी सुध-बुध नहीं है। आंगन में अक्षय-वट खड़ा है। उसकी भी इन्हें परवा नहीं हैं। बूढ़ा अकवर छावनी डाले पड़ा है, उसे कौन पूछता है ? और अशोक का शिलास्तंभ लाकर खड़ा करें तो भी क्या ये बहनें उसकी ओर नजर उठाकर देखेंगी ?

प्रेम का यह संगम-प्रवाह अखंड बहता रहता है और उसके साथ कवि-सम्राट् कालिदास की सरस्वती भी अखंड बह रही है !—

क्वचित् प्रभा लेपिभिरिन्द्रनीलैर्मुक्तामयी यष्टिरिवानुविद्धा ।
अन्यत्र माला सित-पंकजानाम् इन्दीवरैर् उत्खचितान्तरेव ॥
क्वचित्खगानां प्रिय-मानसानां कादम्ब-संसर्गवतीव पंक्तिः ।
अन्यत्र कालागरु-दत्तपत्रा भक्तिर् भुवश्चन्दन-कल्पितेव ॥
क्वचित् प्रभा चांद्रमसी तमोभिश्छायाविलीनैः शबलीकृतेव ।
अन्यत्र शुभ्रा शरद्अभ्रलेखा-रन्ध्रेष्विवालक्ष्यनभः प्रदेशा ॥
क्वचित् च कृष्णोरग-भूषणेव भस्मांग-रागा तनुर् ईश्वरस्य ।
पश्यानवद्यांगि ! विभाति गंगा भिन्नप्रवाहा यमुनातरंगैः ॥

अर्थात्—हे निर्दोष अंगवाली सीते, देखो, इस गंगा के प्रवाह में यमुना की तरंगें धंसकर प्रवाह को खंडित कर रही

हैं। यह कैसा दृश्य है ! मालूम होता है, मानो कहीं मोतियों की माला में पिरोये हुए इन्द्रनीलमणि मोतियों की प्रभा को कुछ धुंधला कर रहे हैं। कहीं ऐसा दीखता है, मानो सफेद कमल के हार में नील कमल गूंथ दिये गए हों। कहीं मानो मानसरोवर जाते हुए श्वेत हंसों के साथ काले कादम्ब उड़ रहे हों; कहीं मानो श्वेत चंदन से लीपी हुई जमीन पर कृष्णा-गरु की पत्र-रचना की गई हो। कहीं मानो चन्द्र की प्रभा के साथ छाया में सोये हुए अंधकार की क्रीड़ा चल रही हो; कहीं शरदऋतु के शुभ्र मेघों के पीछे से इधर-उधर आसमान दीख रहा हो, और कहीं ऐसा मालूम होता है, मानो महा-देवजी के भस्म-भूषित शरीर पर कृष्ण सर्पों के आभूषण धारण करा दिये हों।

कैसा सुन्दर दश्य ! ऊपर पुष्पक विमान में मेघ-श्याम रामचन्द्र और धवल-शीला जानकी चौदह साल के वियोग के पश्चात् अयोध्या में पहुंचनें के लिए अधीर हो उठे हैं, और नीचे इन्दीवर-श्यामा कालिंदी और सुधा-जला जाह्नवी एक-दूसरे का परिरम्भ छोड़े बिना सागर में नामरूप को छोड़कर विलीन होने के लिए दौड़ रही हैं।

इस पावन दृश्य को देखकर स्वर्ग से सुमनों की पुष्प-वृष्टि हुई होगी और भूतल पर कवियों की प्रतिभा-सृष्टि के फुहारे उड़े होंगे।

सितम्बर १९२९

: ५ :

समन्वय-साधिका सरस्वती

सरस्वती का नाम याद करते ही मन कुछ ऐसा विषण्ण होता है। भारत की केवल तीन ही नदियों का नाम लेना हो तो गंगा, यमुना के साथ सरस्वती आयेगी ही। अगर सात नदियों को पूजा में मदद के लिए बुलाना है तो उनके बीच बराबर मध्य में सरस्वती को याद करना ही पड़ता है :

गंगे च, यमुने चैव, गोदावरि, सरस्वति !
नर्मदे, सिंधु, कावेरि ! जलेस्मिन् सन्निधिं कुरु ।।

और अगर तीन भारतीय पहाड़ों की असंख्य कन्याओं का स्मरण-चिंतन करना है तो उनमें न मालूम कितनी छोटी-छोटी नदियां सरस्वती का नाम धारण करके हमारे सामने खड़ी होंगी, लेकिन संस्कृतिपूजक भारतीय हृदय विषाद के साथ कहता है कि हमारी असली सरस्वती नदी, जो एक दफे बहती थी और आज लुप्त हो गई है, वह कहां से निकली, कहां भूमि में छिप गई, और किस रण में सदा के लिए लुप्त हो गई, यह निश्चित रूप से कह नहीं सकते।

दुनिया की सब नदियां अपना-अपना जल सागर को देकर कृतार्थ होती हैं, लेकिन चंद नदियां अधिक परोपकारी होती हैं। वे कहती हैं, "असंख्य नदियों का जल सतत लेते हुए भी

जो खारा-का-खारा ही रहता है, उसे हम पति क्यों बनावें ? जहां लोगों को पीने के लिए पानी की बूंद भी नहीं मिलती, वहां कभी जमीन के ऊपर और ज्यादातर जमीन के अंदर, गुप्त रूप से बहकर रेती के रण में समा जाना, यह भी एक पवित्र जीवन-साधना है।" ऐसा कहकर रणों को अपना जीवन सौंप देने में वे धन्यता अनुभव करती हैं।

यह देखकर संस्कृति की उपासना करनेवाले उत्तरकालीन ऋषियों ने तय किया कि अनेक सरोवरों के कारण, जिसे हम सरस्वतो (सरसवती) कहते थे, उस पुरानी नदी को बाजू पर रखकर हमारे मानस-सरोवर में जिसका उद्गम हुआ, अपने जीवन से जो हमारा जीवन कृतार्थ करती है, और हमारे हृदय-सागर में जा पहुंचती है, उस 'संस्कृति-विद्यारूपी' सरस्वती को ही हम अपनी पूजा में स्थान देंगे। जहां गंगा और यमुना अपना जल एकत्र करती हैं, उस तीर्थ-स्थान में बैठकर ऋषियों ने यज्ञ-याग चलाये। यज्ञ-याग के लिए उस स्थान को प्रकृष्ट माना, और उसे नाम दिया प्रयाग (आज लोग उसे इलाहाबाद कहते हैं)।

इस प्रयाग तीर्थ में गंगा-यमुना का संगम तो है ही, लेकिन हम सारे ऋषि-मुनि अपनी सारी विद्याओं के प्रवाहों को संस्कृत के अध्यापन के द्वारा यहीं बहाते हैं। इस तरह वहां पर त्रिवेणी-संगम है। गंगा-यमुना का जल आंखों से देखा जाता है; सांस्कृतिक सरस्वती का दैवी प्रवाह हम श्रद्धा की आंखों के द्वारा देख सकते हैं। इसीलिए प्रयाग को हम 'त्रिवेणी-संगम' कहते हैं। हमारी सरस्वती यहां अखण्ड बहती रहेगी

और सारे भारत को और सारी पृथ्वी को चैतन्य का जल देगी। स्थूल सरस्वती तो विस्मृति के रण में लुप्त हो गई होगी। संस्कृत-संस्कृति की यह विद्या—सरस्वती—कभी भी लुप्त नहीं हो सकेगी। दुनिया की सब संस्कृतियों का भारत में संगम होता रहेगा, और एक दिन आयेगा, जब दुनिया भारत को समन्वय-तीर्थ कहेगी। त्रिवेणी-संगम अनंतवेणी-संगम बनेगा।

भारत-भाग्य-विधाता चाहता है कि इस माहात्म्य के लिए योग्य बनना, यही हमारी जीवन-साधना बने !

१२ मार्च, १९७३

: ६ :

सिन्धु का विषाद

हिमालय के उस पार, पृथ्वी के इस मानदंड के लगभग बीच में, कैलासनाथजी की आंखों के नीचे चिर-हिमाच्छादित पुण्यवान् प्रदेश है, जिसके छोटे-से दायरे में आर्यावर्त की चार लोकमाताओं का उद्गम-स्थान है। उस पार और इस पार का विचार यदि न करें, तो हम कह सकते हैं कि उत्तर भारत की लगभग सभी नदियां यहां से झरती हैं।

हिमालय हिन्दुस्तान का ही है और किसी देश का नहीं, मानो यही सिद्ध करने के लिए हिमालय के उत्तर की ओर बहनेवाले पानी की एक-एक बूंद इकट्ठा करके, हिमालय के दोनों छोरों से घूमकर उन्हें हिन्द महासागर तक पहुंचाने का काम सिन्धु और ब्रह्मपुत्र, दोनों नद अखंड रूप से करते हैं। ये दो नद ऐसे लगते हैं, मानो श्री कैलासनाथजी ने भारतवर्ष को अपनी भुजाओं में लेने के लिए दो कारुण्यबाहु फैलाये हों। हिमालय की रुकावट मानो सहन न होती हो, इस तरह सतलज और घाघरा हिमालय की गोद में से सीधा रास्ता निकालकर मानसरोवर का जल भारतवर्ष के दो बड़े प्रांतों को पिलाने लगती हैं। जबकि गंगा, यमुना और उनकी असंख्य बहनें पिता का लिहाज रखकर इस ओर रहते हुए

वही काम करती हैं। पंजाब की पांच नदियां और युक्तप्रांत (उत्तर प्रदेश) की पांच नदियां मिलकर भारतवर्ष की समृद्धि को दस गुना बना देती हैं। ये दसों नदियां भारतीय हैं। केवल सिंधु और ब्रह्मपुत्र को हम चाहे अति-भारतीय कह सकते हैं।

भारतवासी गंगामैया को प्राप्त करके सिंधु को मानो भूल ही गये हैं। सिन्धु के तट पर आर्यों के धर्म-प्रसिद्ध तीर्थ हैं ही नहीं। वैदिक देवताओं के देवता इन्द्र को जिस प्रकार हम भूल गए हैं, उसी प्रकार सप्त-सिंधु में से मुख्य सिन्धु नदी को भी मानो हम भूल ही गए हैं। दक्षिण और पूर्व की ओर महासाम्राज्यों की स्थापना करके प्राचीन आर्य वायव्य दिशा के प्रति कुछ उदासीन-से बने, और इसी कारण हमेशा के लिए खतरे में आ पड़े। उत्तर की ओर तो हिमवान् की रक्षा थी ही। पश्चिम की ओर ठेठ अन्दर तक राजपूताने की मरुभूमि और राजपूत तथा डोगरा जाति के शौर्य से पूरी रक्षा मिलती थी। उससे बाहर वेगवती सिंधु रक्षा कर रही थी। इससे आगे करतार (खिरथर) से लेकर हिन्दूकुश तक प्रचंड पर्वतमाला की रक्षा थी। पहाड़ी परोपनिसदी (अफ-गान) लोगों की स्वातंत्र्य-प्रियता भी विदेशियों को इस ओर आने नहीं देती थी। मगर जहां देशवासी ही उदासीन हो गए, वहां पहाड़ी दीवारें और नदियां कितनी रक्षा कर सकती हैं? परोपनिसदी लोगों में यवन मिल गए और वाल्हीक के पास हिन्दुस्तान की जो शास्त्रीय फौजी सीमा थी, वह खिसकती-खिसकती अटक तक आकर अटक गई और अटक ने

भी विदेशियों को अंदर आने से अटकाने के बजाय भारत-वासियों को बाहर जाने से ही अटकाया ! रानी सेमीरामिस हिन्दुस्तान आने से नहीं अटकी। फारस के सम्राट दरायस पंजाब और सिंधु से सुवर्ण-करभार लेनें से न अटके। युएची तथा हूण लोग हिन्दुस्तान आने से न अटके। सिकंदर पांच नदियों को पार करने से न अटका। महमूद या बाबर को भी यह अटक न अटका सकी। हमें मालूम होना चाहिए था कि जिस नदी ने काबुल नदी के पानी का स्वीकार किया वह पश्चिम की ओर से आनेवाले लोगों को नहीं अटकायेगी।

पश्चिमी तिब्बत में कैलास की तलहटी में सिन्धु का उद्गम है। वहां से सीधी रेखा में वायव्य की ओर वह दौड़ती है; क्योंकि अंत में उसे नैर्ऋत्य की ओर जाना है। कश्मीर में घुसकर लेह की फौजो छावनी की मुलाकात लेती हुई काराकोरम पहाड़ की रक्षा में वह सीधी आगे बढ़ती है। स्कार्दू के पास उसे होश आता है कि मुझे हिन्दुस्तान जाना है। गिलगित के किले को दूर से देखकर वह दक्षिण की ओर मुड़ती है। चित्राल की ओर तो वह खुद जाना नहीं चाहती, लेकिन यह जांचने के लिए कि वहां का पानी कैसा है, वह स्वात नदी को अपने पास बुलाती है। स्वात भला अकेली क्यों आने लगी ? उसको निष्ठा काबुल नदी के प्रति है। सफेद कोह का पानी लानेवाली काबुल से मिलकर वह अटक के पास सिन्धु से आ मिलती है। अब सिन्धु पूरी-पूरी भारतीय बन जाती है। स्वात और काबुल के पास

सुनाने के लिए काफी इतिहास पड़ा है। खैबरघाट से कौन-कौन लोग आये और गये, बैक्ट्रिया के यूनानी लोग किस रास्ते से आये और कर्नल यंग हसबंड वहां से चित्राल की चढ़ाई पर कैसे गया—आदि सारा इतिहास ये दो नदियां बता सकती हैं। अमीर अमानुल्ला ने गरमी के पागलपन में परसों ही जो चढ़ाई की थी, उसकी बात यदि पूछें तो वह भी ये बता सकेंगी; और कोहाट की क्रूरता से भी सिन्धु अपरिचित नहीं है। वजीरिस्तान और बन्नू में आर्त्त-धर्म को लज्जित करनेवाली जो घटनाएं घटी थीं, उनकी कहानी कुर्रम के मुंह से सुनकर सिन्धु का जी कांप उठता है। क्रुमु या कुर्रम नदी सिन्धु से मिलती है तब उसका प्रवाह बिगड़ता है। पहाड़ के अभाव में वह मर्यादा में नहीं रह पाता। छोटे-बड़े टापू बनाती-बनाती सिन्धु डेरा इस्माइलखां से लेकर डेरा गाजीखां तक जाती है।

अब सिन्धु पांचों नदियों के पानी की राह देखती हुई संकरी होकर दौड़ती है। जम्मू की ओर से आनेवाली चिनाव कश्मीरी झेलम नदी से मिलती है। लाहौर के वैभव का अनुभव करके तृप्त बनी हुई रावी इन दोनों से मिलती है। व्यास के पानी से पुष्ट बनी सतलज इन तीनों के पानी में जा मिलती है और फिर उन्मत्त बना हुआ पंचनद का प्रवाह अपनी पूरी रफ्तार के साथ मिट्टनकोट के पास सिन्धु के ऊपर टूट पड़ता है। इतने बड़े आक्रमण को सहकर, हजम करके, अपना ही नाम कायम रखनेवाली सिन्धु को शक्ति भी उतनी ही बड़ी होनी चाहिए।

सिन्धु न सिर्फ अपना नाम ही कायम रखती है, वल्कि यहां से वह अपने जीवन की उदार कृपा को अनेक प्रकार से फैलाती हुई आसपास के प्रदेश को भी अपना नाम अर्पण करती है। 'त्यागाय संभृतार्थानाम्' के उदाहरणरूप आर्य राजाओं का ही वह अनुकरण करती है। बड़ी-बड़ी सात घाटियों का पानी वह इकट्ठा जरूर करती है, मगर सारा पानी अनेक मुखों से महासागर को देने के लिए ही, और बीच में यदि कोई गरजमंद आदमी उसमें से मनमाना पानी कहीं ले जाना चाहे, तो सिन्धु को कोई ऐतराज नहीं है।

फिर भी गंगामैया की उदारता सिन्धु में नहीं है। इसी लिए अटक और सक्कर से लेकर हैदराबाद तक उसपर पुल बनाये गए हैं। सक्कर का पुल फौजी दृष्टि से बहुत महत्त्व का है। सिंधु में स्थित एक बड़े टापू से लाभ उठाकर यह पुल बनाया गया है। मगर रोहरी की ओर, जहां पानी गहरा है, वहां यह पुल किसी भी समय पंखे की तरह समेटकर इकट्ठा किया जा सकता है। यदि फौज के लिए सिन्धु को पार करना असंभव-सा बना देना हो, तो एक मंत्र बोलते ही सारा पुल लुप्त हो सकता है—फिर शिकारपुर-सक्कर अलग और रोहरी अलग !

यह बात नहीं है कि शिकारपुर-सक्कर को अंग्रेजों ने ही महत्त्व दिया है। यहां के हिन्दू व्यापारी प्राचीन काल से बोलनघाट के रास्ते से कंदहार जाकर मध्य एशिया में तिजारत करते आये हैं। हिरात या मर्व, बुखारा या समरकंद, कहीं भी देखिये, आपको शिकारपुर के व्यापारी जरूर मिल

जायंगे। शिकारपुर की हुंडी मास्को और पीटर्सबर्ग (लेनिन-ग्राड) तक स्वीकारी जाती थी। सक्कर का स्मरण करें और बड़े जहाज के समान पानी में तैरनेवाले साधुबेला नामक टापू का स्मरण न हो, यह असंभव है। साधुओं की काव्यमय अभिरुचि हमेशा सुन्दर-से-सुन्दर स्थान पसन्द करती है। साधुबेला के सौंदर्य से सम्राट् भी ईर्ष्या करेंगे।

पता नहीं, सिन्धु को आराम लेने की सूझी या सिंघाड़े खाने की, वह यहां से मंचर सरोवर की दिशा में दौड़ती है। किन्तु समय पर सावधान होकर या खिरथर (करतार) के कहने पर वह वापस लौटती है और शेवण से आग्नेय दिशा में मुड़कर हैदराबाद तक जाती है। यह प्रदेश कई युद्धों का साक्षी है। मालूम नहीं, जयद्रथ के समय में यहां की स्थिति कैसी थी। मगर दाहिर और जच्च के समय में यह प्रांत काफी पिछड़ा हुआ रहा होगा। चंद्रगुप्त के पहले ईरानी साम्राज्य को सोना दे-देकर निःसत्त्व हो जाने के कारण कहो, या वहां के ब्राह्मण राजाओं के अनाचारों के कारण कहो, वहां की प्रजा बिलकुल कंगाल और कमजोर हो गई थी। ईरान का बादशाह आये या सिकंदर आये, बगदाद का मुहम्मद-बिन-कासिम आये या सर चार्ल्स नेपियर आये, सिंधु-तटवासी लोग हर समय हारे ही हैं।

जब सिकंदर ने जहाजों में बैठकर सिन्धु को पार किया तब उसने अपनी रक्षा के लिए दोनों किनारों पर अपनी फौज चलाई थी। आज अंग्रेजों ने सिन्धु की रक्षा के लिए नहीं, बल्कि पंजाब का गेहूं विलायत ले जाने के लिए सिन्धु

के दोनों तटों पर रेलें दौड़ाई हैं। सिन्धु का प्रवाह काफी वेगवान होने से गंगा की तरह उसमें जहाज नहीं चल सकते। इसी कारण से कराची के पास के केटी बंदरगाह का कोई महत्त्व नहीं रहा है।

सिन्धु के मुख का प्रदेश सिन्धु के ही पुरुषार्थ के कारण बना है। दूर-दूर से कीचड़ और बालू ला-लाकर सिन्धु वहां उंड़ेलती गई है। नतीजा यह हुआ है कि अरब समुद्र को हमेशा अत्यंत सूक्ष्मता से या 'बहादुरी से' पीछे हटना पड़ा है।

सिन्धु का प्रवाह सिन्धु नाम को शोभा दे, इतना विस्तीर्ण और वेगवान है। गरमी के दिनों में जब पिघले हुए बर्फ के पानी का पूर उसमें आता है, तब उसको घोड़े या हाथी की उपमा शोभा तो क्या दे, वह सूझती भी नहीं। उसको तो जल-प्रलय ही कहना होगा। सागर की लहरें जैसी उछलती हैं, मगरमच्छों के गुरु बन सकें, ऐसे तैराक भी पूर के समय पानी में कूदने की हिम्मत नहीं करते।

प्रेम-दिवानी सती सुहिणी (सोहनी) की ही, कच्चे घड़े के आधार पर, ऐसे प्रवाह में कूदने की हिम्मत हो सकती थी। प्रेम का प्रवाह, प्रेम का वेग और परिणाम के बारे में प्रेम का निरादर महासिंधु से भी बड़ा होता है।

सितंबर, १९२९

: ७ :

भारत का सबसे बड़ा नद ब्रह्मपुत्र

ग्रौर तो सब नदियां, केवल सिंधु ग्रौर ब्रह्मपुत्र ये दो नद—ऐसा भेद हम भारतीयों ने कब का तय किया है। ये दोनों हैं ही ऐसे। विशालकाय और दीर्घवाही जलप्रवाह, जो कैलास मानस-सरोवर के एक ही प्रदेश में जन्म लेकर परस्पर भिन्न दिशा में बहते नगाधिराज हिमालय की प्रदक्षिणा करके पश्चिम ग्रौर पूर्व भारत की सेवा करते-करते, हिंद महासागर के दो विभागों को ग्रपने विशाल जल का अर्घ्य ग्रर्पण करते हैं। सिंधु को तो 'पंजाब की सब नदियां' ग्रपना जल ग्रर्पण करती ही हैं, उसके बाद सिंधु ने पंजाब के दक्षिणवर्ती प्रदेश को ग्रपना ही नाम ग्रर्पण किया है।

इधर ब्रह्मपुत्र ने हिमालय का पूरब का सिरा देखकर, दक्षिण की ओर जाने का सोचा।

पौराणिक इतिहास कहता है कि सौराष्ट्र के श्रीकृष्ण के लड़के प्रद्युम्न ने भारत के दूसरे सिरे की, शोणितपुर की राजकन्या के साथ विवाह करके भारत को एक कर दिया। जो हो, कैलास प्रदेश की सांग्पो नाम धारण करनेवाली नदी ब्रह्मपुत्र का नाम लेकर भारत की ग्रोर मुड़ गई है। ग्रसल में सांग्पो नदी ही 'दीहंग' का नाम लेकर भारत की ग्रोर

मुड़ती है और पूर्व की लोहित नदी सदिया के पास दीहंग से मिलकर ब्रह्मपुत्र का नाम धारण करती है।

मैं इस प्रदेश में काफी घूमा हूं। वहां के पहाड़ों पर से इन नदियों का मैंने भव्य दर्शन किया है। पासीघाट, सदिया, दुमदुमा और डिब्रूगढ़ आदि स्थानों में बैठकर इस प्रदेश का वर्णन मैंने अनेक प्रकार से लिखा है। लेकिन अब वे सारी बातें पुरानी हो गई हैं। वह सारा वर्णन एकत्र करके अगर मैं ब्रह्मपुत्र को अपनी श्रद्धांजलि अर्पण करूं, तो ब्रह्मपुत्र के लिए वह सच्ची श्रद्धांजलि होगी। आज मैं इतना ही कहूंगा कि ब्रह्मपुत्र नद पूरब की ओर गोआलपाड़ा तक जाकर वहां से दक्षिण की ओर मुड़ता है। फिर यह नद जमुना का नाम लेता है। आगे जाकर वह पद्मा बनकर मेघना के पानी को स्वीकार करता है और उसीका नाम धारण करके अनेक मुखों द्वारा समुद्र को मिलता है। यह सारा प्रदेश अब पाकिस्तान से स्वतंत्र हुए बंगला देश के अंतर्गत है।

हुगली-गंगा से लेकर मेघना तक सारे प्रदेश को सुन्दर-वन कहते हैं। यह सारा प्रदेश गंगा और ब्रह्मपुत्र के असंख्य मुखों से बना हुआ है। ये सब नदियां अपना पानी बंगाल के उपसागर को देकर कृतार्थ होती हैं।

१२ मार्च, १९७३

: ८ :

सह्याद्रि को श्रद्धांजलि

जिस तरह कृष्णा के किनारे महाराष्ट्र की राजधानी सातारा में जन्म होने के कारण मैं अपने को कृष्णापुत्र कहलाता हूं। उसी तरह सह्याद्रि की गोद में पला हुआ होने के कारण मैं अपने को सह्यपुत्र भी कहलाता हूँ। औरंगजेब ने हमारे शिवाजी के प्रति अपना तिरस्कार बताने के लिए भले ही उसे 'पहाड़ का चूहा' कहा हो, मैं हमारे सह्याद्रि का चूहा होने पर भी गौरव अनुभव करता हूँ। सह्याद्रि तो भारत-भूमि की पश्चिम की रीढ़ है। खंभात से लेकर कन्याकुमारी तक जो पश्चिम सागर फैला हुआ है उसका स्वागत करने का, उसके साथ बातें करने का अधिकार सह्याद्रि का ही है। और पश्चिम सागर भी हर साल ग्रीष्मकाल के बाद अपने लवण-जल से मीठे बादल बनाकर सह्याद्रि का अभिषेक करता रहता है। प्रकृति माता का वह बड़ा वार्षिक महोत्सव है। सह्याद्रि के ऊंचे-ऊंचे शिखरों पर जब ये बादल बरसने लगते हैं तब हम पर्वत-पुत्र आनन्द-विभोर हो जाते हैं और उन्मत्त होकर नाचने लगते हैं। सह्याद्रि की नदियां अपने पिता का गौरव कभी नहीं भूलतीं। पक्षपातरहित पूर्व और पश्चिम दोनों सागरों को अपनी श्रद्धांजलियां

अर्पित करती रहती हैं। जो नदियां पूर्व की ओर जाती हैं, उन्हें दूर-दूर की यात्रा करनी पड़ती है। पश्चिम की नदियां मस्ती में आकर कायोत्सर्ग करके बड़ी ऊंचाई से नीचे कूद पड़ती हैं और देखते-देखते पूरे वेग से सागर में जा मिलती हैं। इसीलिए शायद पश्चिम की ओर का सागर इतना ज्यादा गहरा है। हिमालय अगर भारत का पूर्व-पश्चिम अन्तर नापता है, तो सह्याद्रि भी 'दक्षिण प्रदेश' का उत्तर-दक्षिण अन्तर नापता है।

रामायण, महाभारत और भागवत हमारे देश की और हमारे संस्कृति की गाथाएं होने के कारण हमारे लिए वंदनीय और शिरोधार्य हैं ही। लेकिन दक्षिण के हम लोगों की जीवन-गाथा हम यहां के लोकगीतों में पाते हैं।

पेड़ जिस तरह अपने फूलों और फलों से सुशोभित होते हैं उसी तरह हमारा सह्याद्रि हमारे पुरखाओं के बांधे हुए पहाड़ी किलों से सुशोभित है। इनको हम दुर्ग कहते हैं। जहां जाना आसान नहीं है, वे होते हैं दुर्ग। बादशाह औरंगजेब ने हम लोगों को पहाड़के चूहे कह करके हमारी अवहेलना की, लेकिन वह हमें दबा नहीं सका। दिल्ली की फौजें और दिल्ली का खजाना लेकर वह चूहों को दबाने के लिए हमारे राज्य में आया। हमारे किले जीत लेना उसके लिए अशक्य नहीं था, लेकिन हमने एक भी किला शत्रु के और अपने गरम-गरम लोहे की कीमत लिये-दिये बिना छोड़ा नहीं और हम जानते भी थे कि विजयी औरंगजेब के पास एक भी किला अपने वश में रखने की ताकत नहीं थी। नया किला

लिया और जीता हुआ पुराना किला खो दिया—ऐसा खेल उन्नीस बरस तक वह खेला। और न जाने किस मुहूर्त में वह महाराष्ट्र आया था, कि फिर दिल्ली लौट नहीं सका। उस की हड्डियां महाराष्ट्र की मध्यकालीन राजधानी औरंगाबाद के पास ही आराम कर रही हैं। मैंने औरंगजेब को महाराष्ट्री बादशाह कहा है। महाराष्ट्र में जन्म लेने से, महाराष्ट्र की हवा की प्रथम सांस लेने से अगर कोई आदमी महाराष्ट्री बन सकता है तो मेरी दलील है कि बारह बरस से अधिक जिसने महाराष्ट्र का अन्न-जल खाया और अपनी अंतिम सांस महाराष्ट्र में ली, उसे भी हम महाराष्ट्री क्यों न कहें? औरंगजेब को हम पहाड़ी चूहों के एक दर में ही, अंतिम आराम का स्थान मिला है।

सह्याद्रि के कारण महाराष्ट्र के दो विभाग होते हैं— 'कोंकण' और 'देश'। इन दो विभागों का जीवनक्रम बिलकुल अलग-अलग है। आबोहवा में तो फर्क है ही, भी आहार में फर्क है। स्वभाव में भी दोनों की अलग-अलग खूबियां पायी जाती हैं। यहांतक कि ब्राह्मणों की जातियों में भी इस स्थान-भेद के कारण दो अलग नाम हुए हैं – कोंकणस्थ और देशस्थ। सह्याद्रि के शिखर तीन हजार और चार हजार फुट से अधिक ऊंचे होते हुए भी पूर्व से पश्चिम या पश्चिम से पूर्व आना-जाना कठिन नहीं है—हमारा पर्वत सह्य जो ठहरा! उसने अपने शिखरों के बीच आने-जाने के लिए घाटियां रखी हैं। चन्द बहुत कड़ी हैं, ज्यादातर आसान हैं। कोंकण विभाग के महत्त्वाकांक्षी लोग अक्सर इन घाटियों के

द्वारा ही सह्याद्रि को लांघकर 'देश' पर जाते हैं और अपने भाग्योदय की आजमाइश करते हैं। यह प्रक्रिया सदियों से चलती आई है और 'देश' के जवां-मर्द इन्हीं घाटों से नीचे उतरकर कोंकण के बंदरों में अपनी शक्ति का परिचय देते हैं और मेहनत की रोटी कमाते हैं। इन दोनों के बीच पहाड़ के आश्रय से जो जातियां रहती हैं वे तो मानो गरुड़ पक्षी की औलाद हैं। इनका युद्ध-कौशल श्रीकृष्ण के जमाने से आजतक अनेक लोगों ने कबूल किया है। पहाड़ पर से बड़े-बड़े पत्थरों को, नीचे से आनेवाले शत्रु के सिर की तलाश लेने के लिए, भेज देने की कला इन्होंकी थी। इनकी मदद से श्रीकृष्ण ने कई बार आत्म-रक्षा की है।

मैंने बचपन से लेकर आजतक इन घाटियों में कई दफे यात्रा की है। कभी पैदल तो कभी बैलगाड़ी पर, कभी मोटर से की तो कभी रेल से, और किश्ती की मुसाफिरी भी कहीं-कहीं सह्याद्रि की ही मुसाफिरी गिनी जा सकती है। इन घाटियों का आरोहण और अवरोहण मेरे बचपन का असाधारण आनन्द था; उसका वर्णन तो विस्तार मे अलग ही करना होगा।

सह्याद्रि की वनस्पतियां, सह्याद्रि की वनौषधियां और यहां के महावृक्षों की समृद्धि से किसी भी देश के लोग ईर्ष्या कर सकते हैं। सह्याद्रि के हरेक हिस्से में घास के और पेड़ के फूल अलग-अलग होते हैं। आयुर्वेद में इन फूलों से मिलने वाले शहद के अलग-अलग उपयोग बताये हैं। फ़लां रोगी के लिए बैजनाथ पहाड़ का शहद अच्छा, फ़लां रोग के लिए

महाबलेश्वर का अच्छा, ऐसी खूबियां पुराने ग्रन्थों में पाई जाती हैं।

मराठी-साहित्य में सह्याद्रि के अलग-अलग किलों का वर्णन मिलता है। वनौषधि का विस्तार भी पाया जाता है। वहां के सांपों के बारे में भी किसीने कुछ लिख रखा है। यहां के पहाड़ों की चट्टानों में जो गुफाएं और लयन खोदे हुए हैं उनका वर्णन तो अखिल भारतीय साहित्य में जगह-जगह पाया जाता है। सोपारा, घारापुरी, जोगेश्वरी, कान्हेरी, कारला, भाजा, नासिक, लेण्याद्रि, अजन्ता, वेरूल—ये सब स्थान महाराष्ट्र के और महाराष्ट्र की संस्कृति के जरा-जर्जर लेकिन अमर स्मारक हैं।

पहाड़ों में जहां नदी का उद्गम है वहां संस्कृति का भी उद्गम ढूंढ़ने के लिए साधु-संत गये बिना नहीं रहते।

इन्द्रायणी का उद्गम-स्थान लोणावला, भीमा का भीमाशंकर, कृष्णा आदि कई नदियों का उद्गम-स्थान पवित्र महाबलेश्वर, कावेरी का और तुंगभद्रा का गंगामूली आदि सब स्थानों पर सह्याद्रि के तपस्वियों ने ध्यान-चिंतन किया है। उनके आशीर्वाद आज भी हमें मिलते हैं।

सह्याद्रि ने तो कन्नड़, तुलू और महाराष्ट्र तीनों भाषाओं के लोगों को आश्रय दिया हुआ है। तीनों का इतिहास मिलकर सह्याद्रि का इतिहास होता है।

और दक्षिण का मलय पर्वत तो सह्याद्रि का ही एक उपनिवेश है। उसे अगर सह्याद्रि के साथ ले लिया तो केरल का इतिहास भी ऊपर के इतिहास में सम्मिलित करना होगा।

जिस तरह एक दफे कलकत्ता से कराची तक बीच में कहीं ठहरे बिना एक ही उड़ान में हवाई जहाज की मुसाफिरी मैंने की थी, अथवा कराची से बम्बई तक आकाश में १८ हजार फुट की ऊंचाई पर से देश का निरीक्षण किया था, उसी तरह किसी दिन कन्याकुमारी से लेकर विंध्याद्रि तक अगर सह्याद्रि का आपादमस्तक व्योम-दर्शन कर सका तो मैं अपने को धन्य-धन्य समझूंगा। किसी समय कोलम्बो से बम्बई की सीधी हवाई मुसाफिरी कर सका, तभी यह शक्य होगा। कालिदास के पुष्पक-आरोही रामचन्द्र के जैसा स्थान-स्थान के, पवित्र तीर्थों को वन्दन करता-करता सह्याद्रि का आंखें भरकर निरीक्षण करूंगा तब तो सरस्वती ही स्वयं उस आनन्द का वर्णन कर सकेगी।

परमपिता सह्याद्रि को कोटि-कोटि वन्दन!

२६ मार्च, '५७

: ६ :

दक्षिण-गंगा गोदावरी

बचपन में सुबह उठकर हम जो भूपाली[1] गाते थे, उसमें से ये चार पंक्तियां अब भी स्मृति-पट पर अंकित हैं—

उठोनियां प्रात:काली । वदनी वदा चंद्रमौली
श्रीबिंदुमाधवाजवली । स्नान करा गंगेचें । स्नान करा गोदेचें ॥
कृष्णा वेण्या तुंगभद्रा । शरयू कालिंदीनर्मदा ।
भीमा भीमा गोदा । करा स्नान गंगेचें ॥

गंगा और गोदा एक ही हैं । दोनों के माहात्म्य में ज़रा भी फर्क नहीं है । फर्क करना ही हो तो इतना ही कि कलि-काल के पाप के कारण गंगा का माहात्म्य किसी समय कम हो सकता है; किन्तु गोदावरी का माहात्म्य कभी कम हो ही नहीं सकता । श्री रामचंद्र के अत्यंत सुख के दिन इस गोदावरी के तीर पर ही बीते थे और जीवन का दारुण आघात भी उन्हें यहीं सहना पड़ा था । गोदावरी तो दक्षिण की गंगा है ।

कृष्णा और गोदावरी इन दो नदियों ने दो विक्रमशाली महाप्रजाओं का पोषण किया है । यदि हम कहें कि महा-राष्ट्र का स्वराज्य और आंध्र का साम्राज्य इन्हीं दो नदियों

---

१. प्रभातियां

का ऋणी है, तो इसमें जरा-सी भी अत्युक्ति नहीं होगी। साम्राज्य बने और टूटे, महाप्रजाएं चढ़ीं और गिरीं, किन्तु इस ऐतिहासिक भूमि में ये दो नदियां अखंड बहती ही जा रही हैं। ये नदियां भूतकाल के गौरवशाली इतिहास की जितनी साक्षी हैं, उतनी ही भविष्यकाल की महान आशाओं की प्रेरक भी हैं। इनमें भी गोदावरी का माहात्म्य कुछ अनोखा ही है। वह जितनी सलिल-समृद्ध है उतनी ही इतिहास-समृद्ध भी है। गोपाल-कृष्ण के जीवन में जिस तरह सर्वत्र विविधता-ही-विविधता भरी हुई है, एक-सा उत्कर्ष-ही-उत्कर्ष दिखाई देता है, उसी तरह गोदावरी के अति दीर्घ प्रवाह के किनारे सृष्टि-सौन्दर्य की विविधता और विपुलता भरी पड़ी है। ब्रह्मदेव की एक कल्पना में से जिस तरह सृष्टि का विस्तार होता है, वाल्मीकि की एक कारुण्यमयी वेदना में से जिस तरह रामायणी सृष्टि का विस्तार हुआ है, उसी तरह त्र्यंवक के पहाड़ के कगार से टपकती हुई गोदावरी में से ही आगे जाकर राजमहेन्द्री की विशाल वारि-राशि का विस्तार हुआ है। सिंधु और ब्रह्मपुत्र को जिस तरह हिमालय का आलिंगन करने की सूझी, नर्मदा और ताप्ती को जिस तरह विंध्य-सतपुड़ा को पिघलाने की सूझी, उसी तरह गोदावरी और कृष्णा को दक्षिण के उन्नत प्रदेश को तर करके उसे धन-धान्य से समृद्ध करने की सूझी है। पक्षपात से सह्याद्रि पर्वत पश्चिम की ओर ढल पड़ा, यह मानो उन्हें पसन्द नहीं आया। ऐसा ही जान पड़ता है कि उसे पूर्व की ओर खींचने का अखंड प्रयत्न ये दोनों नदियां कर रही हैं।

इन दोनों नदियों का उद्‌गम-स्थान पश्चिमी समुद्र से ५०-७५ मील से अधिक दूर नहीं है, फिर भी दोनों ८००-९०० मील की यात्रा करके अपना जल-भार या कर-भार पूर्व-समुद्र को ही अर्पण करती हैं और इस कर-भार का विस्तार भी कोई मामूली नहीं है। उसके अन्दर सारा महाराष्ट्र देश आ जाता है, हैदराबाद और मैसूर के राज्यों का अंतर्भाव होता है, और आंध्र देश तो सारा-का-सारा उसी में समा जाता है। मिश्र संस्कृति की माता नील नदी हमारी गोदावरी के सामने कोई चीज ही नहीं है।

त्र्यंबक के पास पहाड़ की एक बड़ी दीवार में से गोदा का उद्‌गम हुआ है। गिरनार की ऊंची दीवार पर से भी त्र्यंबक की इस दीवार का पूरा खयाल नहीं आयेगा। त्र्यंबक गांव से जो चढ़ाई शुरू होती है, वह गोदामैया की मूर्ति के चरणों तक चलती ही रहती है। इससे भी ऊपर जाने के लिए बाईं ओर पहाड़ में विकट सीढ़ियां बनाई गई हैं। इस रास्ते मनुष्य ब्रह्मगिरि तक पहुंच सकता है। किन्तु वह दुनिया ही अलग है। गोदावरी के उद्‌गम-स्थान से जो दृश्य दीख पड़ता है वही हमारे वातावरण के लिए विशेष अनुकूल है। महाराष्ट्र के तपस्वियों और राजाओं ने समान भाव से इस स्थान पर अपनी भक्ति उंडेल दी है। कृष्णा के किनारे वाई, सातारा, और गोदा के किनारे नासिक तथा पैठण महाराष्ट्र की सच्ची सांस्कृतिक राजधानियां हैं।

किन्तु गोदावरी का इतिहास तो सहन-वीर रामचंद्र और दुःखमूर्ति सीतामाता के वृत्तान्त से ही शुरू होता है।

राजपाट छोड़ते समय राम को दुःख नहीं हुआ; किन्तु गोदावरी के किनारे सीता और लक्ष्मण के साथ मनाये हुए आनन्द का अंत होते ही राम का हृदय एकदम शतधा विदीर्ण हो गया। बाघ-भेड़ियों के अभाव में निर्भय बने हुए हिरण आर्य रामभद्र की दुःखोन्मत्त आंखें देखकर दूर भाग गए होंगे। सीता की खोज में निकले देवर लक्ष्मण की दहाड़ें सुनकर बड़े-बड़े हाथी भी भय-कम्पित हो गए होंगे और पशु-पक्षियों के दुःखाश्रुओं से गोदावरी के विमल जल भी कषाय हो गए होंगे। हिमालय में जिस तरह पार्वती थी, उसी तरह जन-स्थान में सीता समस्त विश्व की अधिष्ठात्री थी। उसके जाने पर जो कल्पांतिक दुख हुआ, वह यदि सार्वभौम हुआ हो, तो उसमें आश्चर्य ही क्या है?

राम-सीता का संयोग तो फिर हुआ, किन्तु उनका जन-स्थान का वियोग तो हमेशा के लिए बना रहा। आज भी आप नासिक-पंचवटी में घूमकर देखें, चाहे चौमासे में जायं या गरमी में, आपको यही मालूम होगा, मानो सारी पंचवटी जटायु की तरह उदास होकर 'सीता-सीता' पुकार रही है। महाराष्ट्र के साधु-संतों ने यदि अपनी मंगल-वाणी यहां न फैलाई होती, तो जनस्थान मानो भयानक उजाड़ प्रदेश हो जाता। गरमी की धूप को टालने के लिए जिस तरह तृण-सृष्टि चारों ओर फैल जाती है, उसी तरह जीवन की विषमता को भुला देने के लिए साधु-संत सर्वत्र विचरते हैं, यह कितने बड़े सौभाग्य की बात है! जब-जब नासिक-त्र्यंबक की ओर जाना होता है, तब-तब वनवास के लिए इस

स्थान को पसन्द करनेवाले राम-लक्ष्मण की आंखों से सारा प्रदेश निहारने का मन होता है, किन्तु हर बार कंपित तृणों में से सीतामाता की कातर तनु-यष्टि ही आंखों के सामने आती है।

रामभक्त श्रीसमर्थ रामदास जब यहां रहते थे तब उनके हृदय में कौन-सी ऊर्मियां उठती होंगी! श्री समर्थ ने गोदावरी के तीर पर गोबर के हनुमान की स्थापना किस हेतु से की होगी? क्या यह बताने के लिए कि पंचवटी में यदि हनुमान होते तो वे सीता का हरण कभी न होने देते? सीतामाता ने कठोर वचनों से लक्ष्मण पर प्रहार करके एक महासंकट मोल ले लिया। हनुमान को तो वे ऐसी कोई बात कह नहीं पातीं! किन्तु जनस्थान और किष्किंधा के बीच वहुत बड़ा अन्तर है, और गोदावरो कोई तुंगभद्रा नहीं है।

राम-कथा का करुण रस द्वापर युग से आजतक बहता हो आया है। उसे कौन घटा सकता है? इसलिए हम अंत्यज जाति के माने गये पाड़े के मुंह से वेदों का पाठ करनेवाले श्री ज्ञानेश्वर महाराज से मिलने पैठण चलें। गोदावरी जिस तरह दक्षिण की गंगा है, उसी तरह उसके किनारे पर बसी हुई प्रतिष्ठान नगरो दक्षिण की काशी मानी जाती थी। यहां के दशग्रंथी ब्राह्मण जो 'व्यवस्था' देते थे, उसे चारों वर्णों को मान्य करना पड़ता था। बड़े-बड़े सम्राटों के ताम्रपत्रों से भी यहां के ब्राह्मणों के व्यवस्था-पत्र अधिक महत्त्व के माने जाते थे। ऐसे स्थान पर शास्त्र-धर्म के सामने हृदय-धर्म की

विजय दिखाने का काम सिर्फ ज्ञानराज ही कर सकते थे। पैठण में ज्ञानेश्वर को यज्ञोपवीत का अधिकार नहीं मिला। संन्यासी शंकराचार्य के ऊपर किये गए अत्याचारों की स्मृति को कायम रखने के लिए जिस तरह वहां के राजा ने नम्बूद्री ब्राह्मणों पर कई रिवाज लाद दिये थे, उसी तरह संन्यासी-पुत्र ज्ञानेश्वर का यदि कोई शिष्य राजपाट का अधिकारी होता तो वह महाराष्ट्रीय ब्राह्मणों को सजा देता और कहता कि ज्ञानेश्वर को यज्ञोपवीत का इन्कार करनेवाले तुम लोग आगे से यज्ञोपवीत पहन ही नहीं सकते।

हाथ की उंगलियों का जिस तरह पंखा बनता है, उसी तरह बड़ी-बड़ी नदियों में आकर मिलनेवाली और आत्म-विलोपन का कठिन योग साधनेवाली छोटी नदियों का भी पंखा बनना है। सह्याद्रि और अजिंठा के पहाड़ों से जो कोना बनता है, उसमें जितना पानी गिरता है, उस सबको खींच-खींच कर अपने साथ ले जाने का काम ये नदियां करती हैं। धारणा और कादवा, प्रवरा और मुला को यदि छोड़ दें तो भी मध्यभारत (मध्यप्रदेश) से दूर-दूर का पानी लानेवाली वर्धा और वेन-गंगा को भला कैसे भूल सकते हैं? दो मिलकर एक बनी हुई नदी का जिसने प्राणहिता नाम रखा, उसके मन में कितनी कृतज्ञता, कितना काव्य, कितना आनन्द भरा होगा! और ठेठ ईशान कोण से पूर्व-घाट का नीर ले आने-वाली अष्टवक्रा इन्द्रावती और उसकी सखी श्रमणी तपस्विनी शबरी को प्रणाम किये बिना कैसे चल सकता है?

गोदावरी की संपूर्ण कला तो भद्राचलम् से ही देखी जा

सकती है। जिसका पट एक से दो मील तक चौड़ा है, ऐसी गोदावरी जब ऊंचे-ऊंचे पहाड़ों के बीच में से होकर अपना रास्ता खुद बनाती हुई सिर्फ दो सौ गज की खाई में से निकलती है तब वह क्या सोचती होगी ? अपनी सारी शक्ति और युक्ति काम में लेकर नाजुक समय में अपनी महाप्रजा को आगे ले चलनेवाले किसी राष्ट्रपुरुष की तरह संसार को विस्मय में डालनेवाली गर्जना के साथ वह यहां से निकलती है। नदी में आनेवाले घोड़ा-पूर और हाथी-पूर जैसे भारी पूरों की बातें हम सुनते हैं; किन्तु एकदम पचास फुट जितना ऊंचा पूर क्या कभी कल्पना में भी आ सकता है ? पर जो कल्पना में संभव नहीं है, वह गोदावरी के प्रवाह में संभव है। संकड़ी खाई में से निकलते हुए पानी के लिए अपना पृष्ठभाग भी सपाट बनाये रखना असंभव-सा हो जाता है। अर्घ्य देते समय जिस प्रकार अंजलि की छोटी-सी नाली बन जाती है, उसी प्रकार खाई में से निकलनेवाले पानी के पृष्ठभाग की भी एक भयानक नाली बनती है। किन्तु अद्भुत रस तो इससे भी आगे अधिक है। इस नाली में से अपनी नाव को ले जानेवाले साहसी नाविक भी वहां मौजूद हैं। नाव के दोनों ओर पानी की ऊंची-ऊंची दीवारों को नाव के ही वेग से दौड़ते हुए देखकर मनुष्य के दिल में क्या-क्या विचार उठते होंगे ?

भद्राचलम् से राजमहेन्द्री या धवलेश्वर तक अखंड गोदावरी बहती है। उसके बाद 'त्यागाय संभृतार्थानाम्' का सनातन सिद्धांत उसे याद आया होगा। यहां से गोदावरी ने

जीवन-वितरण करना शुरू कर दिया है। एक ओर गौतमी गोदावरी, दूसरी ओर वसिष्ठ गोदावरी, बीच में कई द्वीप और अंतर्वेदी-जैसे प्रदेश हैं और इन प्रदेशों में गोदा के सरस जल से और काली चिकनी मिट्टी से पैदा होनेवाले सोने के जैसे शालिधान्य पर परिपुष्ट होकर वेद-घोष करनेवाले ब्राह्मण रहते आये हैं।। ऐसे समृद्ध देश को स्वतंत्र रखने की शक्ति जब हमारे लोग खो बैठे, तब डच, अंग्रेज और फ्रेंच लोग भी गोदावरी के किनारे पड़ाव डालने को इकट्ठे हुए। आज[1] भी यानान में फ्रांस का तिरंगा झंडा फहरा रहा है।

... ...

मद्रास से राजमहेंन्द्री जाते समय बैजवाड़े में सूर्योदय हुआ। वर्षा-ऋतु के दिन थे। फिर पूछना ही क्या था ! सर्वत्र विविध छटाओंवाला हरा रंग फैला हुआ था और हरे रंग का इस तरह जमीन पर पड़ा रहना मानो असह्य लगने से उसके बड़े-बड़े गुच्छ हाथ में लेकर ऊपर उछालनेवाले ताड़ के पेड़ जहां-तहां दीख पड़ते थे। पूर्व की ओर एक नहर रेल की सड़क के किनारे-किनारे बह रही थी, पर किनारा ऊंचा होने के कारण उसका पानी कभी-कभी ही दीख पड़ता था। सिर्फ तितलियों की तरह अपने पाल फैला कर कतार में खड़ी हुई नौकाओं पर से ही उस नहर का अस्तित्व ध्यान में आता था। बीच-बीच में पानी के छोटे-बड़े तालाब मिलते थे। इन तालावों में विविधरंगी बादलोंवाला अनंत आकाश नहाने के लिए उतरा था, इसलिए पानी की

१. सौभाग्य से आज यह परिस्थिति नहीं है।

गहराई अनंत गुनी गहरी मालूम होती थी। कहीं-कहीं चंचल कमलों के बीच निस्तब्ध बगुलों को देखकर प्रभात की वायु का अभिनंदन करने का दिल हो जाता था। ऐसे काव्य-प्रवाह में से होकर हम कोव्वूर स्टेशन तक आ पहुँचे। अब गोदावरी मैया के दर्शन होंगे, ऐसी उत्सुकता यहीं से पैदा हुई। पुल पर से गुजरते समय दाईं ओर देखें या वाईं ओर, इसी उधेड़बुन में हम पड़े थे। इतने में पुल आ ही गया और भगवती गोदावरी का सुविशाल विस्तार दिखाई पड़ा।

गंगा, सिंधु, शोणभद्र, ऐरावती जैसे विशाल वारि-प्रवाह मैंने जी भरकर देखे हैं। बैजवाड़े में किये हुए कृष्णामाता के दर्शन के लिए मैंने हमेशा गर्व अनुभव किया है। किन्तु राजमहेन्द्री के पास की गोदावरी की शोभा कुछ अनोखी ही थी। इस स्थान पर मैंने जितने भव्य काव्य का अनुभव किया है, उतना शायद ही और कहीं बहता देखा होगा। पश्चिम की ओर नजर डाली तो दूर-दूर तक पहाड़ियों का एक सुन्दर झुण्ड बैठा हुआ नजर आया। आकाश में बादल घिरे होने से कहीं भी धूप न थी। सांवले बादलों के कारण गोदावरी के धूलि-धूसर जल की कालिमा और भी बढ़ गई थी। फिर कवि भवभूति का स्मरण भला क्यों न हो? ऊपर की और नीचे की इस कालिमा के कारण सारे दृश्य पर वैदिक प्रभात की सौम्य सुन्दरता छाई हुई थी और पहाड़ियों पर उतरे हुए कई सफेद बादल तो बिलकुल ऋषियों के जैसे ही मालूम होते थे। इस सारे दृश्य का वर्णन शब्दों में कैसे किया जा सकता है?

इतना सारा पानी कहां से आता होगा? विपत्तियों में से

विजय के साथ पार हुआ देश जैसे वैभव की नयी-नयी छटाएं दिखाता जाता है और चारों ओर समृद्धि फैलाता जाता है, वैसे ही गोदावरी का प्रवाह पहाड़ों से निकलकर अपने गौरव के साथ आता हुआ दिखाई देता था। छोटे-बड़े जहाज नदी के बच्चों-जैसे थे। माता के स्वभाव से परिचित होने के कारण उसकी गोद में चाहें जैसे नाचें, तो उन्हें कौन रोकने-वाला था? किन्तु बच्चों की उपमा तो इन नावों की अपेक्षा प्रवाह में जहां-तहां पैदा होनेवाले भंवरों को देनी चाहिए। वे कुछ देर दिखाई देते, बड़े तूफान का स्वांग रचते, और एकाध क्षण में हँस देते और टूट पड़ते, चाहे जहां से आते और चाहे जहां चले जाते या लुप्त हो जाते।

इतने बड़े विशाल पट में यदि द्वीप न हों तो उतनी कमी ही मानी जायगी। गोदावरी के द्वीप मशहूर हैं। कुछ तो पुराने धर्म की तरह स्थिर रूप लेकर बैठे हैं। किंतु कई-एक तो कवि की प्रतिभा के समान हर संभव नया-नया स्थान लेते हैं और नया-नया रूप धारण करते हैं। इन पर अनासक्त बगुलों के सिवा और कौन खड़ा रहने जाय? और जब बगुले चलने लगते हैं तब वे अपने पैरों के गहरे निशान छोड़े बगैर थोड़े ही रहते हैं। अपने धवल चरित्र का अनुसरण करनेवालों को दिशा-सूचन न करा दें तो वे बगुले ही कैसे!

नदी का किनारा यानी मानवीय कृतज्ञता का अखंड उत्सव। सफेद-सफेद प्रासाद और ऊंचे-ऊंचे शिखर तो एक अखंड उपासना हैं ही। किन्तु इतने से ही काव्य संपूर्ण नहीं होता। अतः भक्त लोग हर रोज नदी की लहरों पर से

मंदिर के घंटनाद की लहरों को इस पार से उस पार तक भेजते रहते हैं।

संस्कृति के उपासक भारतवासी इसी स्थान पर गंगाजल के कलश आधे गोदा में उंडेलते हैं और फिर गोदा के पानी से उन्हें भरकर ले जाते हैं। कितनी भव्य विधि है! कितना पवित्र भाव-प्रधान काव्य है! यह भक्ति-रव प्रत्येक हृदय में भरा हुआ है। वह घंटनाद और वह भक्ति-रव पूर्वस्मृति ने ही सुनाया। दरअसल तो केवल इंजिन की आवाज ही सुनाई देती थी। आधुनिक संस्कृति के इस प्रतिनिधि के प्रति अपनी घृणा को यदि हम छोड़ दें तो रेल के पहियों का ताल कुछ कम आकर्षक नहीं मालूम होता और पुल पर तो उसका विजय-नाद संक्रामक ही सिद्ध होता है।

पुल पर गाड़ी के काफी देर चलने के बाद मुझे खयाल आया कि पूर्व दिशा की ओर तो देखना रह ही गया। हम उस ओर मुड़े। वहां बिलकुल नयी ही शोभा नजर आयी। पश्चिम की ओर गोदावरी जितनी चौड़ी थी, उससे भी विशेष चौड़ी पूर्व की ओर थी। उसे अनेक मार्गों द्वारा सागर से मिलना था। सरित्पति से जब सरिता मिलने जाती है तब उसे संभ्रम तो होता ही है, किंतु गोदावरी तो धीरोदात्त माता है। उसका संभ्रम भी उदात्त रूप में ही व्यक्त हो सकता है। इस ओर के द्वीप अलग ही किस्म के थे; उनमें वनश्री की शोभा पूरी-पूरी खिली हुई थी। ब्राह्मणों के या किसानों के झोंपड़े इस ओर से दिखाई नहीं पड़ते थे। बहते पानी के हमले के सामने टक्कर लेनेवाले इन द्वीपों में किसीने ऊंचे प्रासाद

बनाये होते तो शायद वे दूर से ही दीख पड़ते। प्रकृति ने तो केवल ऊंचे-ऊंचे पेड़ों की विजय-पताकाएं खड़ी कर रखी थीं और बायीं ओर राजमहेन्द्री और धवलेश्वर की सुखी वस्ती आनंद मना रही थी। ऐसे विरल दृश्य से तृप्त होने के पहले ही नदी के दायें किनारे पर उन्मत्तता के साथ बहता हुआ कांस की सफेद कलगियों का स्थावर प्रवाह दूर-दूर तक चलता हुआ नजर आया। नदी के पानी में उन्माद था, किन्तु उस की लहरें नहीं बनी थीं। कलगियों के इस प्रवाह ने पवन के साथ षड्यंत्र रचा था, इसलिए वह मनमानी लहरें उछाल सकता था। जहां तक नजर जा सकती थी वहां तक देखा और नजर की पहुंच यहां कम क्यों हो? किन्तु कलगियों का प्रवाह तो बहता ही जा रहा था। गोदावरी के विशाल प्रवाह के साथ भी होड़ करते उसे संकोच नहीं होता था। और वह संकोच करता क्यों? माता गोदावरी के विशाल पुलिन पर उसने माता का स्तन्य-पान क्या कम किया था?

माता गोदावरी! राम-लक्ष्मण-सीता से लेकर वृद्ध जटायु तक सबको तूने स्तन्य-पान कराया है। तेरे किनारे शूरवीर भी पैदा हुए हैं और तत्त्वचिंतक भी पैदा हुए हैं, संत भी पैदा हुए हैं और राजनीतिज्ञ भी; देशभक्त भी पैदा हुए हैं और ईश-भक्त भी। चारों वर्णों की तू माता है। मेरे पूर्वजों की तू अधिष्ठात्री देवता है। नयी-नयी आशाएं लेकर मैं तेरे दर्शन के लिए आया हूं। दर्शन से तो कृतार्थ हो गया हूं किंतु मेरी आशाएं तृप्त नहीं हुई हैं। जिस प्रकार तेरे किनारे रामचंद्र ने दुष्ट रावण के नाश का संकल्प किया था, वैसा ही संकल्प

मैं कबसे अपने मन में लिये हुए हूं। तेरी कृपा होगी तो हृदय में से तथा देश में से रावण का राज्य मिट जायगा, राम-राज्य की स्थापना होते मैं देखूंगा और फिर तेरे दर्शन के लिए आऊंगा, और कुछ नहीं तो कांस की कलगी के स्थावर प्रवाह की तरह मुझे उन्मत्त बना दे, जिससे बिना संकोच के एक-ध्यान होकर मैं माता की सेवा में रत रह सकूं और बाकी सब-कुछ भूल जाऊं। तेरे नीर में अमोघ शक्ति है। तेरे नीर के एक बिंदु का सेवन भी व्यर्थ नहीं जायगा।

अक्तूबर, १६३१

: १० :

कृष्णा के संस्मरण

ग्यारस का दिन था। गाड़ी में बैठकर हम माहुली चले। महाराष्ट्र की राजधानी सातारा से माहुली कुछ दूरी पर है। रास्ते में दाहिनी तरफ श्री शाहु महाराज के वफादार कुत्ते की समाधि आती है। रास्ते पर हमारी ही तरह बहुत-से लोग माहुली की तरफ गाड़ियां दौड़ाते थे। आखिर हम नदी के किनारे पहुंचे। वहां इस पार से उस पार तक लोहे की एक जंजीर ऊंची तनी हुई थी। उसमें रस्सी से एक नाव लटकाई गई थी, जो मेरी बाल-आंखों को बड़ी ही भव्य मालूम होती थी।

किनारे के छोटे-बड़े कंकर कितने चिकने, काले-काले और ठंडे-ठंडे थे ! हाथ में एक को लेता तो दूसरे पर नजर पड़ती। वह पहले से अच्छा मालूम होता। इतने में तीसरे भीगे हुए कंकर पर कत्थई रंग की लकीरें दीख पड़तीं और उसे उठाने का दिल हो जाता। उस दिन कृष्णा का मुझे प्रथम दर्शन हुआ। कृष्णा मैया ने मुझे पहली ही बार पहचाना। मैं उसे पहचान लूं, इतना बड़ा तो मैं था ही नहीं। बच्चा मां को पहचाने, उसके पहले ही मां उसे अपना बना लेती है। हम बच्चे नंगे होकर खूब नहाये, कूदे, पानी उछाला, नाव पर चढ़कर पानी

में छलांगें मारीं। कड़ाके की भूख लगे, इतना कृष्णा में जल-विहार किया।

जैसा नदी का यह मेरा पहला ही दर्शन था, वैसा ही नहाने के बाद नमकीन मूंगफली के नाश्ते का स्वाद भी मेरे लिए पहला ही था। यात्रा के अवसर पर मोरपंखों की टोपी पहननेवाले 'वासुदेव' भीख मांगने आये थे। मंजीरे के साथ उनका मधुर भजन भी उस दिन पहली ही बार सुना। कृष्णामैया के मंदिर में थोड़ा-सा आराम करने के बाद हम घर लौटे।

सह्याद्रि के कान्तार में, महाबलेश्वर के पास से निकल-कर सातारा तक दौड़ने में कृष्णा को बहुत देर नहीं लगती, किन्तु इतने में ही वेण्ण्या कृष्णा से मिलने आती है। इनके यहां के संगम के कारण ही माहुली को माहात्म्य प्राप्त हुआ है। दो बालिकाएं एक-दूसरे के कन्धे पर हाथ रखकर मानो खेलने निकली हों, ऐसा यह दृश्य मेरे हृदय पर पिछले पैंतीस साल से अंकित रहा है।

कृष्णा का कुटुम्ब काफी बड़ा है। कई छोटी-बड़ी नदियां उससे आ मिलती हैं। गोदावरी के साथ-साथ कृष्णा को भी हम 'महाराष्ट्र-माता' कह सकते हैं। जिस समय आज की मराठी भाषा बोली नहीं जाती थी, उस समय का सारा महा-राष्ट्र कृष्णा के ही घेरे के अन्दर आता था।

... ...

'नरसोबाची वाडी' जाते समय नाव पर गाड़ी चढ़ाकर हमने कृष्णा को पार किया, तब उसका दूसरी बार दर्शन

हुआ। यहां पर एक ओर ऊँचा कगार और दूसरी ओर दूर तक फैला हुआ कृष्णा का कछार, और उसमें उगे हुए बैंगन, खरबूजे, ककड़ी और तरबूज के अमृत-खेत! कृष्णा के किनारे के ये बैंगन जिसने एकाध बार खा लिये, वह स्वर्ग में भी उनकी इच्छा करेगा। दो-दो महीनों तक लगातार बैंगन खाने पर भी जी नहीं भरता, फिर भला अरुचि तो कैसे हो?

सांगली के पास, कृष्णा के तट पर पहली ही बार मैंने 'रियासती महाराष्ट्र' का राजवैभव देखा। वे आलीशान और विशाल घाट, सुन्दर और चमकीले बर्तनों में भर-भर कर पानी ले जाती हुईं महाराष्ट्र की ललनाएं, पानी में छलांग मारकर किनारे पर के लोगों को भिगोने का हौसला रखने वाले अखाड़ेबाज, क्षुद्र घंटिकाओं की तालबद्ध आवाज से अपने आगमन की सूचना देनेवाले पहाड़-जैसे हाथी, और कर्र्र् की एकश्रुति आवाज निकालकर रसपान का न्यौता देनेवाले ईख के कोल्हू—यह था मेरा कृष्णामैया का तीसरा दर्शन।

मुझे तैरना अच्छी तरह नहीं आता था। फिर भी एक बड़ी गागर पानी में औंधी डालकर उसके सहारे वह जाने के लिए मैं एक बार नदी में उतर पड़ा। किन्तु एक जगह कीचड़ में ऐसा फंसा कि एक पैर निकालता तो दूसरा और भी अन्दर धंस जाता। और कीचड़ भी कैसा? मानो काला-काला मक्खन! मुझे लगा कि अब जंगम न रहकर उलटे पेड़ की तरह यहीं स्थावर हो जाऊंगा! उस दिन की घबराहट भी मैं अब तक नहीं भूला हूं।

चिंचली स्टेशन पर पीने के लिए हमें कृष्णा का पानी

मिलता था। हमारे एक परिचित सज्जन वहां स्टेशनमास्टर थे। वे हमें बड़े प्रेम से एकाध लोटा पानी मंगवाकर देते थे। हम चाहे प्यासे हों या न हों, पिताजी हम सबको भक्ति-पूर्वक पानी पीने को कहते। कृष्णा महाराष्ट्र की आराध्या देवी है। उसकी एक बूंद भी पेट में आने से हम पावन हो जाते हैं। जिसके पेट में कृष्णा की एक बूँद भी पहुंच चुकी है, वह अपना महाराष्ट्रीयपन कभी भूल नहीं सकता। श्रीसमर्थ रामदास और शिवाजी महाराज, शाहु और बाजीराव घोर-पड़े और पटवर्धन, नाना फड़नवीस और रामशास्त्री प्रभुणे—थोड़े में कहें तो महाराष्ट्र का साधुत्व और वीरत्व, महाराष्ट्र की न्यायनिष्ठा और राजनीतिज्ञता, धर्म और सदाचार, देश-सेवा और विद्यासेवा, स्वतंत्रता और उदारता, सब-कुछ कृष्णा के वत्सल-कुटुम्ब में परवरिश पाकर फला-फूला है। देहू और आलंदी के जल कृष्णा में ही मिलते हैं। पंढरपुर की चंद्रभागा भी भीमा नाम धारण करके कृष्णा को ही मिलती है। 'गंगा का स्नान और तुंगा का पान' इस कहावत में जिसके गौरव को स्वीकार किया गया है, वह तुंगभद्रा कर्णाटक के प्राचीन वैभव की याद करती हुई कृष्णा में ही लीन होती है। सच कहें तो महाराष्ट्र, कर्णाटक और तेलंगण (आंध्र), इन तीनों प्रदेशों का ऐक्य साधने के लिए ही कृष्णा नदी बहती है। इन तीनों प्रान्तों ने कृष्णा का दूध पिया है। कृष्णा में पक्षपाती प्रांतीयता नहीं है।

... ...

कालेज के दिन थे। बड़ी-बड़ी आशाएं लेकर बड़े भाई

से मिलने मैं पूना से घर गया। किन्तु मेरे पहुँचने से पहले ही वे इहलोक छोड़ चुके थे। मेरी किस्मत में कृष्णा के पवित्र जल में उनकी अस्थियों का समर्पण करना ही बदा था। बेलगांव से मैं कूड़ची गया। संध्या का समय था। रेल के पुल के नीचे कृष्णा की पूजा की। बड़े भाई की अस्थियां कृष्णा के उदर में अर्पण कीं, नहाया और पलथी मारकर जीवन-मरण पर सोचने लगा।

कृष्णा के पानी में कितने ही महाराष्ट्र के वीरों और महाराष्ट्र के शत्रुओं का खून मिला होगा! वर्षाकाल की मस्ती में कृष्णा ने कितने ही किसानों और उनके मवेशियों को जल-समाधि दी होगी! पर कृष्णा को इससे क्या? मदोन्मत्त हाथी उसके जल में विहार करें और विरक्त साधु उसके किनारे तपश्चर्या करें, कृष्णा के लिए दोनों समान हैं। मेरे भाई की अस्थियों और कंकर बनी हुई पहाड़ की अस्थियों के बीच कृष्णा के मन में क्या फर्क है? माहुली में अपने कन्धे पर मुझे खड़ा करके पानी में कूदने के लिए बढ़ावा देनेवाले बड़े भाई की अस्थियां मुझे अपने हाथों उसी कृष्णा के जल में समर्पण करनी पड़ीं! जीवन की लीला कैसी अगम्य है!

कृष्णा के उदर में मेरा एक दूसरा भाई भी सोया हुआ है! ब्रह्मचारी अनंत बुआ मरढेकर हृदय की भावना से मेरे सगे छोटे भाई थे, और देश-सेवा के व्रत में मेरे बड़े भाई थे। स्वदेशी, राष्ट्रीय शिक्षा और गोसेवा यह त्रिविध कार्य करते-करते उन्होंने शरीर छोड़ा था। मेरे साथ उन्होंने गंगोत्री

और अमरनाथ की यात्रा की थी। किन्तु कृष्णा के किनारे आकर ही वे अमर हुए। भक्ति की धुन में वे सुध-बुध भूल जाते और कई जगह ठोकर खाते। इस बात का मुझे हिमालय की यात्रा में कई बार अनुभव हुआ था। मैं बार-बार उनको कोसता, किन्तु वे परवाह नहीं करते। वे तो श्रीसमर्थ की प्रासादिक वाणी की सात्त्विक मस्ती में ही रहते। कृष्णा को भी उन्हें कोसने की सूझी होगी। देव-मंदिर की प्रदक्षिणा करते-करते वे ऊपर से एक दह में गिर पड़े और देवलोक सिधारे। जब वाई के पथरीले पट पर से बहती गंगा का स्मरण करता हूं, कृष्णा में हर वर्षाकाल में शिरस्नान करते देव-मंदिर के शिखरों का दर्शन करता हूं, तब कृष्णा के पास मेरा भी यह एक भाई हमेशा के लिए पहुंच गया है, इस बात का स्मरण हुए बिना नहीं रहता। साथ-ही-साथ अनंतबुवा की तपोनिष्ठ किन्तु प्रेम-सुकुमार मूर्ति का दर्शन हुए बिना भी नहीं रहता।

... ...

सन् १९२१ का वह साल! भारतवर्ष ने एक ही साल के भीतर स्वराज्य सिद्ध करने का बीड़ा उठा लिया है। हिन्दू-मुसलमान एक हो गये हैं। तैंतीस करोड़ देवताओं के समान भारतवासी करोड़ों की संख्या में ही सोचने लगे हैं। स्वराज्य-ऋषि लोकमान्य तिलक का स्मरण कायम करने के लिए 'तिलक स्वराज्य फंड' में एक करोड़ रुपये इकट्ठे करने हैं। राष्ट्रसभा के छत्र के नीचे काम करनेवाले सदस्यों की संख्या

भी एक करोड़ बनानी है और पट-वर्धन श्रीकृष्ण के सुदर्शन के समान चरखे भी इस धर्मभूमि में उतनी ही संख्या में चलवा देने हैं। भारतपुत्र इस काम के लिए बेजवाड़े में इकट्ठे हुए हैं। श्री अब्बाससाहब, पुणतांबेकर, गिदवाणी और मैं, एक साथ बेजवाड़ा पहुंच गये हैं। ऐसे मंगल अवसर पर श्री कृष्णाम्बिका का विराट दर्शन करने का सौभाग्य मिला। वाई में जिस कृष्णा के किनारे बैठकर संध्यावंदन किया था और न्यायनिष्ठ रामशास्त्री तथा राजकाज-पटु नाना फड़नवीस की बातें की थीं, उसी नन्हीं कृष्णा को यहाँ इतनी बड़ी होते देखकर प्रथम तो विश्वास ही न हुआ; कहाँ माहुली की वह छोटी-सी जंजीर और कहाँ युरोप-अमे- को जोड़नेवाले केवल के जैसा यहां का वह रस्सा! हजारों-लाखों लोग यहां नहाने आये हैं। स्थूलकाय आंध्र-भाइयों में आज भारतवर्ष के तमाम भाई घुलमिल गये हैं। 'राष्ट्रीय' हिन्दी का वाक्प्रवाह जहां-तहां सुनाई देता है। कृष्णा में जिस प्रकार वेण्ण्या, वारणा, कोयना, भीमा, तुंगभद्रा आकर मिलती हैं, उसी प्रकार गांव-गांव के लोग ठठ-के-ठठ बेजवाड़े में उभरते हैं। ऐसे अवसर पर सबके साथ रोज कृष्णा में स्नान करने का आनन्द मिलता है। जिस कृष्णा ने जन्मकाल का दूध दिया, उसी कृष्णा ने स्वराज्य-कांक्षी भारतराष्ट्र का गौरवशाली दर्शन कराया। जय कृष्णा! तेरी जय हो! भारतवर्ष एक हो! स्वतंत्र हो!

जुलाई, १९२९

: ११ :

वेदों की धात्री तुंगभद्रा

जलमग्न पृथ्वी को अपने शूलदंत से बाहर निकालनेवाले वाराह भगवान ने जिस पर्वत पर अपनी थकान दूर करने के लिए आराम किया, उस पर्वत का नाम वाराह पर्वत ही हो सकता है। भगवान आराम करते थे तब उनके दोनों दांतों से पानी टपकने लगा और उसकी धाराएं पैदा हुईं। बायें दांत की धारा हुई तुंगा नदी और दाहिने दांत से निकली भद्रा नदी। आज इस उद्गम-स्थान को कहते हैं गंगामूल और वाराह-पर्वत को कहते हैं बावाबुदान। बावाबुदान शायद वराह पर्वत नहीं है, लेकिन उसका पड़ोसी है। तुंगा के किनारे शंकराचार्य का शृंगेरी मठ है। मैंने तुंगा के दर्शन किये थे तीर्थहल्ली में। तीर्थहल्ली में मैं शायद एक घंटे जितना ही ठहरा था। वहां की नदी के पात्र की शोभा देखकर खुश हुआ था। तीर्थहल्ली का माहात्म्य तो मैं नहीं जानता, लेकिन कन्नड़ भाषा की एक छोटी-सी लघुकथा में मैंने तीर्थहल्ली का वर्णन पढ़ा था। वही मेरे लिए तीर्थहल्ली के स्मरण को स्थायी करने के लिए काफी है।

तुंगा के किनारे शिमोगा शहर के पास किसी समय महात्मा गांधी के साथ मैं घूमने गया था। इस कारण भी यह नदी स्मृति-पट पर अंकित है।

भद्रा के किनारे बेंकिपुर आता है। यहां की भाषा में अग्नि को बेंकि कहते हैं। क्या भद्रा का पानी बेंकिपुर की आग बुझाने के लिए काफी नहीं था ?

तुंगा और भद्रा का संगम होता है कूडली के पास। शायद इसी संगम के महादेव के भक्त थे श्री बसवेश्वर, जो एक राजा के प्रधान मंत्री होने पर भी लिंगायत पंथ की स्थापना कर सके। बसवेश्वर के काव्यमय गद्य-वचनों के अन्त में 'कूडल-संगम देवराया' का जिक्र बार-बार आता है। उसे पढ़कर 'मीरा के प्रभु गिरिधर नागर' का स्मरण हुए बिना नहीं रहता। कूडली के पास जो तुंगभद्रा बनती है वह आगे जाकर कुर्नूल के पास मेरी माता कृष्णा से मिलती है। इस बीच कुमुद्वती, वरदा, हरिद्रा और वेदावती[1] जैसी नदियां तुंगभद्रा से मिलती हैं। इस प्रदेश में तुल्यबल द्वन्द्व संस्कृति का ही बोलबाला होगा। क्योंकि तुंगभद्रा के किनारे ही हरिहर जैसी पुण्यनगरी की स्थापना हुई है। शैवों और वैष्णवों का झगड़ा मिटाने के लिए किसी उभय-भक्त ने हरि और हर दोनों को मिलाकर एक मूर्ति बना दी। उसके मंदिर के आसपास जो शहर बसा उसका नाम हरिहर ही पड़ा।

तुंगभद्रा का पात्र पथरीला है। जहां देखें, गोल-मटोल बड़े-बड़े पत्थर नदी के पात्र में स्नान करते पाये जाते हैं। ऐसे पत्थर कभी-कभी इस प्रदेश में टेकरियों के शिखर पर भी एक के ऊपर एक विराजमान पाये जाते हैं। इन्हीं पत्थरों के

१. वेदवती भी तुंगभद्रा के जैसी द्वन्द्व नदी है। वेद और अवती दो के संगम से वेदावती बनी है।

बीच एक प्रचंड विस्तार पर विजयनगर साम्राज्य की राजधानी थी।

विजयनगर के खंडहर देखने के लिए जब मैं होस्पेट से विरूपाक्ष गया था, तब इन भीमकाय बट्टी का या चट्टानों का दर्शन किया था। विजयनगर के अप्रतिम कारीगरी के भग्न मंदिरों का दर्शन करते-करते मेरा हृदय सम्राट कृष्णराय का श्राद्ध कर रहा था। रात को विरूपाक्ष के मंदिर में हम सो गये, तब तीन सौ साल तक जिसकी कीर्ति कायम रही, उस साम्राज्य के वैभव के ही स्वप्न मैंने देखे। दूसरे दिन ब्राह्म मुहूर्त में उठकर हम नजदीक के मातंग पर्वत के शिखर पर जा पहुंचे। वहां हमें अरुणोदय का और बाद में उतने ही काव्यमय सूर्योदय का दृश्य देखना था। मातंग पर्वत की चोटी पर से तुंगभद्रा का दर्शन करके हम धीरे-धीरे लेकिन कूदते-कूदते नीचे उतरे।

जब रावण सीतामाता को उठाकर गगनमार्ग से जा रहा था, तब सीता के वल्कल का अंचल यहां की चट्टानों से रगड़ खा गया था। उसकी रेखाएं आज भी यहां के पत्थरों पर पाई जाती हैं।

कुछ साल पहले मैंने कुर्नूल के पास तुंगभद्रा को अपना समस्त जीवन कृष्णा को अर्पण करते देखा और उसके पास से स्वार्पण की दीक्षा ली।

सुनता हूं कि अब इस तुंगभद्रा पर बांध बांधकर उसके इकट्ठा किये हुए पानी से सारे मुल्क को समृद्धि पहुंचाई जायगी और उसी पानी से बिजली पैदा करके उसकी शक्ति से

उद्योगों का विकास किया जायगा।[1] माता की सेवा की भी कोई मर्यादा हो सकती है।

नदी के प्रवाह में ये हाथी के जैसे बड़े-बड़े पत्थर बाद में आकर पड़े हैं या हाथी के जैसे पत्थरों में से ही नदी ने अपना रास्ता खोज निकाला है, इसकी खोज कौन कर सकता है? दक्षिण में वैदिक संस्कृति की विजय का सूचक विजयनगर का साम्राज्य इसी नदी के किनारे निर्माण हुआ और इसी नदी के किनारे वह कच्चे घड़े के समान टूट गया। विजय-नगर के साम्राज्य की कीर्ति-पताका त्रिखण्ड में फहराती थी। चीन का सम्राट्, बगदाद का बादशाह और विजयनगर का महाराजाधिराज—तीनों का वैभव सबसे बड़ा माना जाता था। उस समय क्या तुंगभद्रा आज के जैसी ही दिखाई देती होगी? नहीं तो कैसी दिखाई देती होगी? नदी क्या मनुष्य की कृति है, जिससे उसके वैभव में उत्कर्ष और अपकर्ष हो!

मुला और मुठा मिलकर जैसे पूना की मुलामुठा नदी बनी है, वैसे ही तुंगा और भद्रा के संगम से तुंगभद्रा बनी है। 'द्वन्द्वः सामासिकस्य च' के न्याय से इन दोनों नदियों में उच्च-नीच भाव तनिक भी नहीं है। दोनों नाम समान भाव से साथ-साथ बहते हैं। इस नदी के पानी की मिठास और उपजाऊ-पन की तारीफ प्राचीन काल से होती आई है। सभी नदी-भक्तों ने स्वीकार किया है कि गंगा का स्नान और तुंगा का पान मनुष्य को मोक्ष के रास्ते ले जाता है। मोटर की यात्रा

---

१. अब यह बांध बंध गया है।

यदि न होती तो तुंगभद्रा को मैं अनेक स्थानों पर अनेक तरह से देख लेता। गभद्रा एक तुंमहान संस्कृति को प्रतिनिधि है। वेदपाठी लोगों में तुंगभद्रा के किनारे बसे हुए ब्राह्मणों के उच्चारण आदर्श और प्रमाणभूत माने जाते हैं। वेदों का मूल अध्ययन भले सिंधु और गंगा के किनारे हुआ हो, परन्तु उनका यथार्थ सादर रक्षण तो सायणार्य के समय से तुंगभद्रा के ही किनारे हुआ है।

१९२६-२७

: १२ :

वैगै और कावेरी

भारतीय एकता के प्रखर समर्थक हमारे धर्माचार्यों ने और संस्कृत-कवियों ने जिन नदियों को एक श्लोक में बांध दिया और अपने पूजा-जल में जिन नदियों की सन्निधि मांग ली, उनमें कावेरी का नाम है :

गंगे च, यमुने चैव, गोदावरि, सरस्वति !
नर्मदे, सिंधु, कावेरि ! जलेऽस्मिन् सन्निधिं कुरु ।।

इसलिए मुझे कावेरी से ही सबसे पहले क्षमा मांगनी चाहिए। परन्तु मैं कावेरी से भी सुदूर दक्षिण में बहने वाली वैगै से प्रारंभ करूंगा। इसका कारण बहुत कम लोगों के ध्यान में आयेगा। लेकिन सुनने के बाद वे भी मेरे साथ सहमत होंगे कि वैगै की वैसी विशेषता है जरूर। दक्षिण में मेरे मन में मद्रास के बाद सबसे अधिक महत्व का कोई शहर है तो वह है मदुरा, अथवा मदुरै। और मैंने वैगै के अनेक बार दर्शन किये मदुरै में ही। वहां वैगै के किनारे-किनारे अनेक बार घूमा हूं और करीब-करीब नदी के पात्र में ही खड़े एक मंदिर में दक्षिण के ब्राह्मणेतर भाइयों के साथ मैंने बड़े उत्साह के साथ खाना भी खाया है। उस मंदिर के एक पत्थर में एक बड़ी मछली उकेरी हुई देखकर मैंने दरियाफ्त भी किया

कि यह मंदिर किन्हीं मच्छीमार लोगों के पुरखों का बनवाया हुआ तो नहीं है ?

यह वैगै नदी मेरे सह्याद्रि की पूर्व बाजू की दो सुन्दर घाटियों से निकलनेवाले प्रवाहों से बनती है और मदुरा को अपना दूध पिलाकर, रामेश्वर, पंबन पहुंचने के थोड़ा पहले ही रामनाथ के उत्तर में समुद्र से जा मिलती है।

वैगै नदी को मैं समन्वय की नदी कहता हूं। पश्चिम-घाट के दो स्रोतों का पानी वह एकत्र करती है। केवल इसी लिए मैं उसे समन्वय-नदी नहीं कहूंगा। ऐसे तो दुनिया की असंख्य नदियां अनेक स्रोतों को एकत्र करती आई हैं। गंगा-यमुना का संगम तो कवियों ने गाया ही है। मुला-मुठा के संगम पर महाराष्ट्र की राजधानी-स्वरूप पूना शहर बसा है। उस संगम ने एक नदी का नाम दबाकर दूसरी नदी का नाम आगे चलाने का पक्षपात नहीं किया है। मुला और मुठा दोनों नामों का द्वंद्व समास बनाकर मुलामुठा आगे बहती है। यही न्याययुक्त व्यवहार तुंगभद्रा ने भी किया है, क्योंकि तुंगा और भद्रा मिलकर तुंगभद्रा बनती है।

ऐसी-ऐसी नदियों को भी जब मैंने समन्वय-नदी नहीं कहा, तब वैगै को मैं समन्वय-नदी क्यों कहता हूं ? इसका मुख्य कारण यह है कि यह संगम अथवा समन्वय मनुष्य के पुरुषार्थ से हुआ है।

जिस तरह वैगै नदी पश्चिमी घाट का पानी साठ-सत्तर मील बहाने के बाद पूर्वी समुद्र को दे देती है, उसी तरह उसी पश्चिमी घाट के उस पार की पेरियार नदी उस बाजू का

पानी पश्चिमी समुद्र को देने ले जाती है। अंग्रेजों ने सोचा कि पेरियार नदी का इतना ढेर पानी देखते-देखते अरबी समुद्र में फेंका जाय, यह कोई न्याय नहीं है। पेरियार नाम का अर्थ ही होता है महानदी। अगर सह्याद्रि को बींध-कर पहाड़ के पेट में से करीब एक मील की नहर खोदी जाय तो पेरियार का बहुत-सा पानी उस पार की वैगै नदी को सौंपा जा सकता है। इस तरह जिस पानी को कुदरत ने पश्चिमी समुद्र को देने का सोचा था, उसे उलटाकर तमिलनाड की सेवा करते-करते पूर्वी समुद्र तक पहुंचाया जा सकता है।

किंतु ऐसा करने के लिए पेरियार नदी का पानी एक वड़े बांध से रोककर वहां एक छोटा-सा सरोवर बनाना पड़ा और फिर यह पानी उस सरोवर में से एक मील से अधिक लम्बी नहर के द्वारा सह्याद्रि के पूर्व की ओर छोड़ दिया गया है। पहाड़ के उस पार जाने के वाद वही नहर छत्तीस मील आगे जाकर पानी को अनेक दिशा में छोड़ देती है। इतने वड़े पुरुषार्थ के इतिहास को रोमांचक समझना चाहिए। ऐसा 'विपरीत' काम करें या न करें, इसका अंग्रेजों ने भी सौ साल तक चिंतन किया।

ऐसे मनुष्य-कृत पुरुषार्थ के फलस्वरूप जो नदी जल-पुष्ट बन गई, उस समन्वित वैगै को सबसे प्रथम श्रद्धांजलि अर्पण करने को जी चाहा तो उसमें आश्चर्य क्या ?

(२)

अब आती है दक्षिण की रानी कावेरी नदी। इसका

पौराणिक इतिहास कैसा भी रम्य और भव्य क्यों न हो, आज कावेरी का स्मरण हम इसलिए करते हैं कि यही एक भारतीय नदी है, जिसके पानी का मध्यकाल से हम अधिक-से-अधिक उपयोग करते आये हैं। पूर्वी समुद्र भले ही हमसे इस कारण नाराज हो, असंख्य मनुष्य और पशु, पक्षी (और खेत की वनस्पतियां भी) हमें इस पुरुषार्थ के लिए हमेशा आशीर्वाद देते रहेंगे।

जब मैं कुर्ग प्रांत की राजधानी मरकारा (मडीकेरे-शुद्ध शहर) गया था तो किसीने आसपास का और दूर का प्रदेश दिखाते हुए कावेरी के उद्गम की दिशा भी बताई थी। ब्रह्म-गिरि से यह नदी निकलती है। उसका नाम है तलैकावेरी। जिस तरह तापी (ताप्ती) नदी के उद्गम को मूलतापी कहते हैं, उसी तरह कावेरी के उद्गम-स्थान को तलैकावेरी कहते होंगे। कन्नड़ भाषा में सिर को तलै कहते हैं। पहाड़ के ऊंचे स्थान से नदी का उद्गम है, इसलिए भी उसे तलै-कावेरी कहते होंगे। बड़ा काव्यमय और लुभावना स्थान है वह। यह कावेरी कुर्ग और मैसूर इन दो प्रांतों या राज्यों को बींधकर तमिलनाड की भूमि को अनेक शाखाओं और नहरों के द्वारा अपने पानी का दान करते-करते जो कुछ पानी बच जाता है, समुद्र को दे देती है। इसी कावेरी की उत्तर की बड़ी शाखा को स्वतंत्र नदी समझकर कोलेरून का नाम मिला है। अंग्रेज लोगों ने अपनी सहूलियत के लिए हमारे नामों के मनमाने रूपान्तर किये हैं, उसका यह एक नमूना है।

कावेरी को अपना पानी अर्पण करने वाली उप-नदियों की संख्या कम नहीं है। फिर समुद्र की ओर पहुंचते उसकी शाखाएं अनेक बनें, तो उसमें आश्चर्य क्या है ?

महाराष्ट्र के हम लोग हमारी गोदावरी को 'दक्षिण-गंगा' कहते हैं। पुराणों ने भी इस नाम को स्वीकार किया है, तो भी दक्षिण के लोग कावेरी को 'दक्षिण गंगा' कहने का आग्रह रखते हैं। किसने कहा कि दक्षिण में एक ही गंगा होनी चाहिए ? गोदावरी और कावेरी दोनों को हम समान-भाव से दक्षिण-गंगा कहें तो इसमें किसीको आपत्ति नहीं होनी चाहिए।

मैंने कावेरी का भव्य दर्शन किया था टीपू सुलतान के श्रीरंगपत्तन में। कावेरी ने अपने प्रवाह में श्रीरंगपत्तन, शिव-समुद्रम् और श्रीरंगम् ऐसे तीन सुन्दर टापुओं को जन्म दिया है। इनका वर्णन मैं नहीं करूंगा। कावेरी का स्कंद-पुराण में आया हुआ इतिहास, चोल राजाओं का कावेरी के पानी से सेवा लेने का पुरुषार्थ, कावेरी के मार्ग में आनेवाले अप्रतिम सुन्दर प्रपातों आदि का वर्णन भी मैं नहीं करूंगा, क्योंकि वह अनधिकार-चेष्टा होगी।

भारत की नदियों के बारे में लिखते हुए मैंने गुजरात की विपुल-जला नदियों के बारे में कुछ भी नहीं लिखा, हालांकि गुजरात में मैंने अपने जीवन के सर्वोत्कृष्ट दिन बिताये थे। कारण पूछने पर मैंने कहा, "अपनी लेखमाला मैं गुजराती में लिख रहा हूं तो गुजरात के वाशिंदों के सामने उन्हींके प्रदेश की नदियों के बारे में क्यों लिखूं ? यह काम गुजरात

के सुपुत्रों का है।

कावेरी के बारे में लिखने बैठा और वैसा ही विचार आया कि तमिलनाड की नदियों के बारे में तमिल भाषा में लिखने का अधिकार तमिलनाड के सुपुत्रों का और सुकन्याओं का है।

हम सब भारतवासी नदी-पुत्र और नदी-भक्त हैं। इसी कारण हम एक-दूसरे का हृदय अच्छी तरह से पहचान सकते हैं। नदी-भक्ति के द्वारा भी हम भारतवासी भारत की एकता को मजबूत और समृद्ध बना सकते हैं।

: १३ :

कटि-मेखला, विंध्य-सतपुड़ा

विंध्य और सतपुड़ा नर्मदा के बलवान् रक्षक हैं। इन दोनों ने मिलकर नर्मदा को उसका जल भी दिया है और उसका रक्षण भी किया है। ये दोनों पहाड़ नर्मदा के अति निकट होने के कारण नर्मदा को न अपना पात्र बदलने का मौका मिला है, न अपने पानी के आशीर्वाद से दूर-दूर तक खेती करने की जमीन उसे मिली है।

जहां नर्मदा नदी का उद्गम है, वहां विंध्य और सतपुड़ा को जोड़ने वाला मेकल या मेखल पहाड़ चन्द्राकार खड़ा है। मेखल ऋषि की यह तपोभूमि है। यहां से अनेक नदियों का उद्गम है। नर्मदा पश्चिम की ओर बहती हुई भृगुकच्छ के पास समुद्र से मिलती है। शोणनद इसी पहाड़ से निकलकर गर्जना करता हुआ अपना सारा पानी गंगा को प्रदान करता है। गुप्तदान वह जानता ही नहीं। महानदी और जोहिल्ला, ये दो नदियां भी मेकल पहाड़ से ही निकलती हैं। प्राचीन काल में इस प्रदेश में अच्छी बस्ती आबाद थी। उड़ीसा के उत्कल लोग, और इस ओर के मेखल लोग, रामायण में और पुराणों में अपना उल्लेख पाते हैं।

नर्मदा नदी को 'मेखल-कन्या' कहते हैं। कभी-कभी उसे

'मेखला' भी कहते हैं। भारतमाता की कटिमेखला वह है ही।

जिस तरह नर्मदा के उत्तर के पहाड़ों को विंध्य कहते हैं, उसी तरह दक्षिण के पहाड़ों को सतपुड़ा कहते हैं।

इन पहाड़ों के पश्चिम विभाग का ही असली नाम था सातपुत्र या सतपुड़ा। विंध्यपर्वत के ये सात लड़के गिने जाते थे। कोई कहते हैं कि प्राचीन भूविप्लव के कारण यहां की किसी जमीन के सात पुड़े या झुरियां बन गईं, इसीलिए इसे 'सातपुड़ा' कहते हैं। आज ये सब पहाड़ियां नर्मदा और ताप्ती के बीच अपना स्थान ले बैठी हैं। राजपीपला और असीरगढ़ की ओर से इनकी शोभा अच्छी दीख पड़ती है।

सतपुड़ा और मेकल इन दो पहाड़ियों के बीच हुशंगाबाद और हरदा के पास जो टेकड़ियां हैं, उन्हें 'महादेव के डोंगर' कहते हैं। उनकी शोभा को छिंदवाड़ा से अच्छी तरह देखा जा सकता है।

यों देखा जाय तो मंडला, बालाघाट, सिवनी, छिंदवाड़ा और बेतूल ये सब तहसीलें मिल करके सतपुड़ा की अधित्यका बनती है। मराठी में अधित्यका को 'पठार' कहते हैं, जो शब्द अब हिन्दी ने ले लिया है।

सतपुड़ा, महादेव और मेखल पर्वतों का सारा प्रदेश आदिवासियों की पैतृक भूमि है। यहां गोंड, वैगा, भील, कोल, कोरकू आदि अनेक आदिवासी जातियां रहती हैं।

जिस तरह सह्याद्रि में और हिमालय में और कुछ हद तक आसाम की पहाड़ियों में घूमा हूं, वैसा विंध्य-सतपुड़ा में घूमने का मौका मुझे मिलता तो यह जीवन की धन्यता होती।

लेकिन रेल के रास्ते और कभी-कभी मोटर में भी इस पहाड़ में काफी घूमा हूं। नागपुर से इटारसी और इटारसी से जबलपुर कई वार, अनगिनत बार, रेल की मुसाफिरी की है और तब यहां की छोटी-मोटी पहाड़ियों, उनके गर्वोन्नत शिखरों और उनके बीच से बहनेवाली छोटी-मोटी नदियों को देखने का सौभाग्य मिला है।

इसी तरह गोंदिया से जबलपुर भी रेल द्वारा मुसाफिरी करके मैंने अपनी हड्डियां ढीली की हैं।

एक वार स्वातन्त्र्य-प्राप्ति का उत्सव मनाने के लिए आधा लाख से अधिक आदिवासियों के बीच जब नयनपुर गया था, तब भी इन पहाड़ों का नयन-सुभग दर्शन पाया था। राजपीपला के पास जो सतपुड़ा और सह्याद्रि का काटखूना होता है, वहां ये दोनों पहाड़ इतने नम्र हैं, मानो एक-दूसरे को नमस्कार ही करते हैं।

नर्मदा के दक्षिणी किनारे पर बड़वानी के पास भगवान ऋषभदेव की बावनगजी मूर्ति पहाड़ी सतपुड़ा में गिनी जाती है या नहीं, यह मैं नहीं कह सकता; लेकिन अगर खंडवा व अशीरगढ़ तक सतपुड़ा की पहुंच होगी तो बड़वानी के पास की पहाड़ी को भी मैं सतपुड़ा में ही शुमार करूंगा।

किसीने कहा है कि जैन संस्कृति पहाड़ी संस्कृति नहीं है, मैदान की और खेती के साम्राज्य की संस्कृति है। बात सही मालूम होती है। फिर भी मैं कहूँगा कि इस संस्कृति ने पहाड़ के लोगों को अपने असर के नीचे लाने की कोशिश किसी समय जरूर की थी।

विंध्य और सतपुड़ा, नर्मदा और ताप्ती, शोण और मही, इन नामों के साथ जो प्रदेश ध्यान में आता है, वहां की संस्कृति भूमिजन या गिरिजन आदिम जातियों की ही संस्कृति है।

स्वतन्त्र भारत ने राज्यों की जो नई सीमाएं बनाईं, उनके अन्दर मध्यप्रदेश एक इतना अच्छा विशाल राज्य बनाया, कि उसके अन्दर विंध्य-सतपुड़ा मेखला के सबके सब आदिवासियों का अन्तर्भाव हुआ है। इस राज्य में ऐसे ही मन्त्री और कर्मचारी नियुक्त होने चाहिए, जिनका इस प्रदेश के साथ पूरा-पूरा परिचय हो और जिनके हृदय में यहां के गिरिजनों के प्रति आत्मीयता और आदर हो। विंध्य पर्वत ने (इसके साथ सतपुड़ा भी आ गया) अगस्त्य के सामने सिर झुकाया, उस घटना को हुए कई युग बीत गए। अब विंध्य और सतपुड़ा के लिए नये अर्थ में सिर ऊंचा करने के दिन आ गये हैं।

जब हम भारत का चित्र नजर के सामने रखते हैं, तब नर्मदा के रक्षक भाई वीर विंध्य और वीर सप्तपुत्र को कमर के स्थान पर देखते हैं। नर्मदा कटि-मेखला है ही और ये दो पहाड़ कमर की मजबूत हड्डियां हैं। अब लोकोन्नति के लिए कमर कसने के दिन आ गये हैं। सबसे अच्छे लोकसेवकों को अब इसी प्रदेश में जाकर वहां की आदिम जातियों को जरूरी शिक्षा देनी चाहिए, ताकि वे भारत के अच्छे-से-अच्छे नागरिक हो जायें और स्वराज्य की धुरी वहन करने की योग्यता और उसका उत्साह उनके हृदय में प्रकट हो।

११ मार्च, १९७३

: १४ :

उभयान्वयी नर्मदा

हमारा देश हिन्दुस्तान महादेवजी की मूर्ति है। हिन्दुस्तान के नक्शे को यदि उलटा पकड़ें, तो उसका आकार शिवलिंग के जैसा मालूम होगा। उत्तर का हिमालय उसका पाया है और दक्षिण की ओर का कन्याकुमारी का हिस्सा उसका शिखर है।

गुजरात के नक्शे को ज़रा-सा घुमायें और पूर्व के हिस्से को नीचे की ओर तथा सौराष्ट्र के छोर—ओखा मंडल—को ऊपर की ओर ले जायें तो यह भी शिवलिंग के जैसा ही मालूम होगा। हमारे यहां पहाड़ों के जितने भी शिखर हैं, सब शिवलिंग ही हैं। कैलास के शिखर का आकार भी शिवलिंग के समान ही है।

इन पहाड़ों के जंगलों से जब कोई नदी निकलती है, तब कवि लोग यह कहे विना नहीं रहते कि "यह तो शिवजी की जटाओं से गंगाजी निकली हैं!" चन्द लोग पहाड़ों से आनेवाले पानी के प्रवाह को अप्सरा (अप् सरा) कहते हैं और चन्द लोग पर्वत की इन तमाम लड़कियों को पार्वती कहते हैं।

ऐसी ही अप्सरा-जैसी एक नदी की चर्चा इस लेख में की गई है। महादेव के पहाड़ के समीप मेकल या मेखल पर्वत

की तलहटी में अमरकंटक नामक एक तालाव है। वहां से नर्मदा का उद्‌गम हुआ है। जो अच्छा घास उगाकर गौओं की संख्या में वृद्धि करती है, उस नदी को 'गो-दा' कहते हैं। यश देनेवाली को 'यशो-दा', और जो अपने प्रवाह तथा तट की सुन्दरता के द्वारा 'नर्म' याने 'आनन्द' देती है, वह है नर्म-दा। इसके किनारे घूमते-घामते जिसको बहुत ही आनन्द मिला, ऐसे किसी ऋषि ने इस नदी को यह नाम दिया होगा। उसे मेखल-कन्या या मेखला भी कहते हैं।

जिस प्रकार हिमालय का पहाड़ तिब्बत और चीन को हिन्दुस्तान से अलग करता है, उसी प्रकार हमारी यह नर्मदा नदी उत्तर भारत अथवा हिन्दुस्तान और दक्षिण भारत या दक्खन के बीच आठ सौ मील की एक चमकती, नाचती, दौड़ती सजीव रेखा खींचती है और कहीं इसको कोई मिटा न दे, इस खयाल से भगवान ने इस नदी के उत्तर की ओर विंध्य तथा दक्षिण की ओर सतपुड़ा के लम्बे-लम्बे पहाड़ों को नियुक्त किया है। ऐसे समर्थ भाइयों की रक्षा के बीच नर्मदा दौड़ती-कूदती अनेक प्रान्तों को पार करती हुई भृगुकच्छ यानी भड़ौंच के समीप समुद्र से जा मिलती है।

अमरकंटक के पास नर्मदा का उद्‌गम समुद्र की सतह से करीब पांच हजार फुट की ऊंचाई पर होता है। अब आठ सौ मील में पांच हजार फुट उतरना कोई आसान काम नहीं है। इसलिए नर्मदा जगह-जगह छोटी-बड़ी छलांगें मारती है। इसी पर से हमारे कवि-पूर्वजों ने नर्मदा को दूसरा नाम दिया 'रेवा'। 'रेव्' धातु का अर्थ है कूदना।

जो नदी कदम-कदम पर छलांगें मारती है, वह नौका-नयन के लिए यानी किश्तियों के द्वारा दूर तक की यात्रा करने के लिए काम की नहीं। समुद्र से जो जहाज आता है वह नर्मदा में मुश्किल से तीस-पैंतीस मील अन्दर आ-जा सकता है। वर्षा ऋतु के अन्त में ज्यादा-से-ज्यादा पचास मील तक पहुंचता है।

जिस नदी के उत्तर और दक्षिण की ओर दो पहाड़ खड़े हैं, उसका पानी भला नहर खोदकर दूर तक कैसे लाया जा सकता है? अतः नर्मदा जिस प्रकार नाव खेने के लिए बहुत काम की नहीं है, उसी प्रकार खेतों की सिंचाई के लिए भी विशेष काम की नहीं है। फिर भी इस नदी की सेवा दूसरी दृष्टि से कम नहीं है। उसके पानी में विचरनेवाले मगरों और मछलियों की, उसके तट पर चरनेवाले ढोरों और किसानों की, और तरह-तरह के पशुओं की तथा उसके आकाश में कलरव करनेवाले पक्षियों की वह माता है।

भारतवासियों ने अपनी सारी भक्ति भले गंगा पर उंड़ेल दी हो, पर हमारे लोगों ने नर्मदा के किनारे कदम-कदम पर जितने मंदिर खड़े किये हैं, उतने अन्य किसी नदी के किनारे नहीं किये होंगे।

पुराणकारों ने गंगा, यमुना, गोदावरी, कावेरी, गोमती, सरस्वती आदि नदियों के स्नान-पान का और उनके किनारे किये हुए दान के माहात्म्य का वर्णन भले चाहे जितना किया हो, किन्तु इन नदियों की प्रदक्षिणा करने की बात किसी भक्त ने नहीं सोची, जब कि नर्मदा के भक्तों ने कवियों को ही सूझने

वाले नियम बनाकर सारी नर्मदा की परिक्रमा या 'परिकम्मा' करने का प्रकार चलाया है।

नर्मदा के उद्गम से प्रारंभ करके दक्षिण-तट पर चलते हुए सागर-संगम तक जाइये, वहां से नाव में बैठकर उत्तर के तट पर जाइये और वहां से फिर पैदल चलते हुए अमरकंटक तक जाइये—एक परिक्रमा पूरी होगी। नियम बस इतना ही है कि 'परिकम्मा' के दरम्यान नदी के प्रवाह को कहीं भी लांघना नहीं चाहिए, न प्रवाह से बहुत दूर ही जाना चाहिए। हमेशा नदी के दर्शन होने चाहिए। पानी केवल नर्मदा का ही पीना चाहिए। अपने पास धन-दौलत रखकर ऐश-आराम में यात्रा नहीं करनी चाहिए। नर्मदा के किनारे जंगल में बसने वाले आदिम निवासियों के मन में यात्रियों की धन-दौलत के प्रति विशेष आकर्षण होता है। आपके पास यदि अधिक कपड़े बर्तन या पैसे होंगे, तो वे आपको इस बोझ से अवश्य मुक्त कर देंगे।

हमारे लोगों को ऐसे अकिंचन और भूखे भाइयों का पुलिस द्वारा इलाज करने की बात कभी सूझी ही नहीं और (आदिम निवासी भाई भी मानते आये हैं कि यात्रियों पर उनका यह हक है) जंगलों में लूटे गये यात्री जब जंगल से बाहर आते हैं, तब दानी लोग यात्रियों को नये कपड़े और सीधा देते हैं।

श्रद्धालु लोग सब नियमों का पालन करके—खास तौर पर ब्रह्मचर्य का आग्रह रखकर नर्मदा की परिक्रमा धीरे-धीरे तीन साल में पूरी करते हैं। चौमासे में वे दो-तीन माह कहीं

रहकर साधु-सन्तों के सत्संग से जीवन का रहस्य समझने का आग्रह रखते हैं।

ऐसी परिक्रमा के दो प्रकार होते है। उनमें जो कठिन प्रकार है, उसमें सागर के पास भी नर्मदा को लांघा नहीं जा सकता। उद्गम से मुख तक जाने के वाद फिर उसी रास्ते से उद्गम तक लौटना तथा उत्तर के तट से सागर तक जाना और फिर उसी रास्ते से उद्गम तक लौटना—यह परिक्रमा इस प्रकार दूनी होती है। इसका नाम है जलेरी।

मौज और आराम को छोड़कर तपस्यापूर्वक एक ही नदी का ध्यान करना, उसके किनारे के मन्दिरों के दर्शन करना, आसपास रहनेवाले सन्त-महात्माओं के वचनों को श्रवण-भक्ति से सुनना और प्रकृति की सुन्दरता तथा भव्यता का सेवन करते हुए जीवन के तीन साल विताना कोई मामूली प्रवृत्ति नहीं है। इसमें कठोरता है, तपस्या है, वहादुरी है, अन्तर्मुख होकर आत्म-चिन्तन करने की और गरीवों के साथ एकरूप होने की भावना है, प्रकृतिमय बनने की दीक्षा है, और प्रकृति के द्वारा प्रकृति में विराजमान भगवान के दर्शन करने की साधना है।

और इस नदी के किनारे की समृद्धि मामूली नहीं है। असंख्य युगों से उच्च कोटि के सन्त-महन्त, वेदान्ती, संन्यासी और ईश्वर की लीला देखकर गद्गद् होनेवाले भक्त अपना-अपना इतिहास इस नदी के किनारे वोते आये हैं। अपने खानदान की शान रखनेवाले और प्रजा की रक्षा के लिए जान कुरबान करनेवाले क्षत्रिय वीरों ने अपने पराक्रम इस नदी के किनारे आज़माये हैं। अनेक राजाओं ने अपनी राज-

धानी की रक्षा करने के हेतु से नर्मदा के किनारे छोटे-बड़े किले बनवाये हैं और भगवान के उपासकों ने धार्मिक कला की समृद्धि का मानो संग्रहालय तैयार करने के लिए जगह-जगह मन्दिर खड़े किये हैं। हरेक मन्दिर अपनी कला के द्वारा आपके मन को खींचकर अन्त में अपने शिखर की अंगुली ऊपर दिखाकर अनन्त आकाश में प्रकट होनेवाले मेघश्याम का ध्यान करने के लिए प्रेरित करता है।

जिस प्रकार 'अज़ान' की आवाज सुनकर खुदा-परस्तों को नमाज़ का स्मरण होता है, उसी प्रकार दूर-दूर से दिखाई देनेवाली मन्दिरों की शिखररूपी चमकती अंगुलियां हमें स्तोत्र गाने के लिए प्रेरित करती हैं।

और नर्मदा के किनारे शिवजी या विष्णु का, रामचन्द्र या कृष्णचन्द्र का, जगत्पति या जगदम्बा का स्तोत्र शुरू करने से पहले नर्मदाष्टक से प्रारम्भ करना होता है—"सबिंदुसिंधु-सुस्खलत् तरंगभंग-रंजितम्।" इस प्रकार जब पंचचामर के लघु-गुरु अक्षर नर्मदा के प्रवाह का अनुकरण करते हैं, तब भक्त लोग मस्ती में आकर कहते हैं, 'हे माता! तेरे पवित्र जल का दूर से दर्शन करके ही इस संसार की समस्त बाधाएं दूर हो गईं—'गतं तदैव मे भयं त्वदम्बु वीक्षितं यदा'—और अन्त में भक्ति-लीन होकर वे नमस्कार करते हैं—'त्वदीय पाद-पंकजं नमामि देवि! नर्मदे!'

हमें यह भूलना नहीं चाहिए कि जिस प्रकार नर्मदा हमारी और हमारी प्राचीन संस्कृति की माता है, उसी प्रकार वह हमारे भाई आदिम निवासी लोगों की भी माता है।

इन लोगों ने नर्मदा के दोनों किनारों पर हजारों साल तक राज्य किया था, कई किले भी बनवाये थे और अपनी एक विशाल आरण्यक संस्कृति भी विकसित की थी।

मुझे हमेशा लगा है कि हिन्दुस्तान का इतिहास प्रान्तों के अनुसार या राज्यों के अनुसार लिखने के बजाय यदि नदियों के अनुसार लिखा गया होता, तो उसमें प्रजा-जीवन प्रकृति के साथ ओत-प्रोत हो गया होता और हरेक प्रदेश का पुरुषार्थी वैभव नदी के उद्गम से लेकर मुख तक फैला हुआ दिखाई देता। जिस प्रकार हम सिन्धु के किनारे के घोड़ों को सैंधव कहते हैं, भीमा के किनारे का पोषण पाकर पुष्ट हुए भीमथड़ी के टट्टुओं की तारीफ करते हैं, कृष्णा की घाटी के गाय-बैलों को विशेष रूप से चाहते हैं, उसी प्रकार पुराने समय में हरेक नदी के किनारे पर विकसित हुई संस्कृति अलग-अलग नामों से पहचानी जाती थी।

इसमें भी नर्मदा नदी भारतीय संस्कृति के दो मुख्य विभागों की सीमा-रेखा मानी जाती थी। रेवा के उत्तर की ओर की पंचगौड़ों की विचार-प्रधान संस्कृति और रेवा के दक्षिण की ओर की द्रविड़ों की आचार-प्रधान संस्कृति मुख्य मानी जाती थी। विक्रम-संवत् का काल-मान और शालिवाहन का काल-मान—दोनों नर्मदा के किनारे सुनाई देते हैं और बदलते हैं।

मैंने कहा तो सही कि नर्मदा उत्तर भारत तथा दक्षिण भारत के बीच एक रेखा खींचने का काम करती है, किन्तु उसके साथ मुकाबला करनेवाली दूसरी भी एक नदी है।

नर्मदा ने मध्य हिन्दुस्तान से पश्चिमी किनारे तक सीमा-रेखा खींची है। गोदावरी ने यों मानकर कि यह ठीक नहीं हुआ, पश्चिम के पहाड़ सह्याद्रि से लेकर पूर्व-सागर तक अपनी एक तिरछी रेखा खींची है। अतः उत्तर की ओर के ब्राह्मण संकल्प बोलते समय कहेंगे—"रेवायाः उत्तरे तीरे," और पैठण के अभिमानी हम दक्षिण के ब्राह्मण कहेंगे—"गोदावर्याः दक्षिणे तीरे।" जिस नदी के किनारें शालिवाहन या शातवाहन राजाओं ने मिट्टी में से मानव बनाकर उनकी फौज के द्वारा यवनों को परास्त किया, उस गोदावरी को संकल्प में स्थान न मिले, यह भला कैसे हो सकता है ?

नर्मदा नदी की 'परिकम्मा' तो मैंने नहीं की है। अमर-कंटक तक जाकर उसके उद्गम के दर्शन करने का मेरा संकल्प बहुत पुराना है। पिछले वर्ष विंध्यप्रदेश की राजधानी रीवां तक हम गये भी थे, किन्तु अमरकंटक नहीं जा सके। नर्मदा के दर्शन तो जगह-जगह किये हैं, लेकिन उसके विशेष काव्य का अनुभव किया जबलपुर के पास भेड़ाघाट में।

भेड़ाघाट में नाव में बैठकर संगमरमर की नीली-पीली शिलाओं के बीच से जब हम जल-विहार करते हैं, तब यही मालूम होता है मानो योग-विद्या में प्रवेश करके मानव-चित्त के गूढ़ रहस्यों को हम खोल रहे हैं। इसमें भी जब हम बन्दर-कूद के पास पहुंचते हैं और—पुराने सरदार यहां घोड़ों को इशारा करके उस पार तक कूद जाते थे—आदि बातें सुनते हैं, तब मानो मध्यकाल का इतिहास फिर से सजीव हो उठता है।

इस गूढ स्थान के इस माहात्म्य को पहचानकर ही किसी

योगविद्या के उपासक ने समीप की टेकरी पर चौंसठ योगि-
नियों का मन्दिर बनवाया होगा और उनके चक्र के बीच नंदी
पर विराजित शिव-पार्वती की स्थापना की होगी । इन योगि-
नियों की मूर्तियां देखकर भारतीय स्थापत्य के सामने मस्तक
नत हो जाता है और ऐसी मूर्तियों को खंडित करनेवालों की
धर्मान्धता के प्रति ग्लानि पैदा होती है। मगर हमें तो खंडित
मूर्तियों को देखने की आदत सदियों से पड़ी हुई है !

'धुआंधार' प्रकृति का एक स्वतन्त्र काव्य है। पानी को
यदि जीवन कहें तो अधःपात के कारण खंड-खंड होने के बाद
भी जो अनायास पूर्वरूप धारण करता है और शान्ति के साथ
आगे बहता है, वह सचमुच जीवनतम कहा जायगा । चौमासे
में जब सारा प्रदेश जलमग्न हो जाता है, तब वहां न तो होती
है 'धार' और न होता है उसमें से निकलनेवाला ठंडी भाप
के जैसा 'धुआं' । चौमासे के बाद ही धुआंधार की मस्ती देख
लीजिए। प्रपात की ओर टकटकी लगाकर ध्यान करना मुझे
पसन्द नहीं है, क्योंकि प्रपात एक नशीली वस्तु है । इस प्रपात
में जब धोबीघाट पर के साबुन के पानी के जैसी आकृतियां
दिखाई देती हैं और आसपास ठंडी भाप के बादल खेल खेलते
हैं, तब जितना देखते हैं उतनी चित्तवृत्ति अस्वस्थ होती जाती
है। यह दृश्य मन भरकर देखने के बाद वापस लौटते समय
लगता है, मानो जीवन के किसी कठिन प्रसंग में से हम बाहर
आये हैं और इतने अनुभव के बाद पहले के जैसे नहीं रहे हैं ।

इटारसी-होशंगाबाद के समीप की नर्मदा बिलकुल अलग
ही प्रकार की है। वहां के पत्थर जमीन में तिरछे गड़े हुए

हैं। किस भूकम्प के कारण इन पत्थरों के स्तर ऐसे विषम हो गये हैं, कोई नहीं बता सकता। नर्मदा के किनारे भगवान की आकृति धारण करके बैठे हुए पाषाण भी इस विषय में कुछ नहीं बता सकते।

और वही नर्मदा जब शिरोवेष्टन के साफे के समान लम्बे किन्तु कम चौड़े भड़ौंच के किनारे को धो डालती है और अंकलेश्वर के खलासियों को खिलाती है, तब वह बिलकुल निराली ही मालूम होती है।

कबीरवड़ के पास अपनी गोद में एक टापू की परिवरिश करने का आनन्द जिसे एक बार मिला, वह सागर-संगम के समय भी इसी तरह के एक या अनेक टापू-बच्चों की परि-वरिश करे, तो इसमें आश्चर्य ही क्या है?

कबीरवड़ हिन्दुस्तान के अनेक आश्चर्यों में से एक है। लाखों लोग जिसकी छाया में बैठ सकते हैं और बड़ी-बड़ी फौजें जिसकी छाया में पड़ाव डाल सकती हैं, ऐसा एक वट-वृक्ष नर्मदा के प्रवाह के बीचोंबीच एक टापू में पुराण-पुरुष की तरह अनन्त काल की प्रतीक्षा कर रहा है। जब बाढ़ आती है, तब उसमें टापू का एकाध हिस्सा बह जाता है, और उसके साथ इस वट-वृक्ष की अनेक शाखाएं तथा उनपर से लटकनेवाली जड़ें भी बह जाती हैं। अबतक कबीरबड़ के ऐसे बंटवारे कितनी बार हुए, इतिहास के पास इसकी सूची नहीं है। नदी बहती जाती है, और बड़ की नई-नई पत्तियां फूटती जाती हैं। सनातन काल वृद्ध भी है और बालक भी है। वह त्रिकालज्ञानी भी है और विस्मरणशील भी है।

इस काल-भगवान का और कालातीत परमात्मा का अखंड ध्यान करनेवाले ऋषि-मुनि और सन्त महात्मा जिसके किनारे युग-युग से बसते आये हैं, वह आर्य-अनार्य सबकी माता नर्मदा भूत, भविष्य, वर्तमान के मानवों का कल्याण करे। जय नर्मदा, तेरी जय हो !

अगस्त, १९५५

: १५ :

दूसरी कटि-मेखला ताप्ती

विंध्य और सतपुड़ा पर्वत, नर्मदा और ताप्ती (तापी) नदियां, चारों मिलकर भारतमाता की कटिमेखला बनते हैं।

नर्मदा और ताप्ती एक ही पिता की दो कन्याएँ हैं। दोनों अपना पानी पश्चिमी सागर को देकर पतिभक्ति पूर्ण कर सकीं। नर्मदा तो दो पहाड़ों के बीच बहती रहने के कारण उसके लिए इधर-उधर का पानी लेना मुश्किल नहीं था। लेकिन दो पहाड़ों के बीच होने से अपने पानी से, दूर के वृक्ष-वनस्पति को और पशु-पक्षियों को तृप्त करने का आनन्द उसे नहीं मिल सका। पिता की भक्ति और पति की सेवा इतने से उसको सन्तोष मानना पड़ा।

तो भी नर्मदा का भाग्य नर्मदा का ही है। सारी दुनिया उसे दक्षिण गंगा कहती है, इससे अधिक क्या चाहिए? मेखल पहाड़ से जन्म पाने के कारण उसे 'मेखला' नाम भी मिला है।

ताप्ती नदी को इधर-उधर से पानी लेना आसान तो था ही, लेकिन पानी देने का आनन्द उसे अधिक मिलता है, हालांकि गोदावरी, कृष्णा, तुंगभद्रा आदि पूर्वगामिनी नदियों के जितना तो नहीं।

गुजरात में रहनेवाले लोगों के लिए सूरत शहर अगर

प्रेम का स्थान है, तो ताप्ती नदी भी भक्ति की अधिकारिणी है।

और अंग्रेजों ने जब भारत में शुरू-शुरू में अपना व्यापार आरम्भ किया तब उनके लिए सूरत शहर का महत्व सबसे ज्यादा था और समुद्र के रास्ते सूरत जाने के लिए ताप्ती के मुख से ही प्रवेश करना पड़ता था।

भारत के कपड़ों का और गृह-उद्योगों का आकर्षण यूरोप के लोगों को यहां खींच सका। उनमें सबसे पहले आये पोर्चुगीज। उनका यह अधिकार छीन लेने में सफलता पाई अंग्रेजों ने। यह विजय आसानी से थोड़े ही मिल सकती थी! जहां ताप्ती नदी समुद्र को मिलती है, वहां सुवाली बन्दर के नजदीक पोर्चुगीज और अंग्रेजों के बीच एक बड़ी दरियाई लड़ाई हुई। इसमें जब पोर्चुगीज हारे तभी अंग्रेजों को भारत के व्यापार पर अधिकार करने का आत्मविश्वास जागृत हुआ।

व्यापार के लिए आनेवाले लोगों को अपना राज्य दे देना, यह तो भारतीयों का स्वधर्म ही रहा। ब्रिटिश साम्राज्य के संस्थापकों के लिए सुवाली का बन्दर एक बड़ा तीर्थस्थान था। आज उसका तनिक भी महत्व नहीं रहा। ताप्ती माता ने कितने ही साम्राज्य देखे होंगे। वह तो महादेव के पहाड़ों से पानी लाकर विष्णु भगवान के सागर को अर्पण करने का काम निरन्तर करती ही रहेगी।

११ मार्च, १९३९

परिशिष्ट

: १ :

सखी मार्कण्डी

क्या हरएक नदी माता ही होती है ? नहीं, मार्कंण्डी तो मेरी छुटपन की सखी है। वह इतनी छोटी है कि मैं उसे अपनी बड़ी बहन भी नहीं कह सकता।

बेलगुन्दी के हमारे खेत में गूलर के पेड़ के नीचे दुपहर की छाया में जाकर बैठूं तो मार्कंण्डी का मंद पवन मुझे जरूर बुलायेगा। मार्कंण्डी के किनारे मैं कई बार बैठा हूं, और पवन की लहरों से डोलती हुई घास की पत्तियों को मैंने घंटों तक निहारा है। मार्कंण्डी के किनारे असाधारण या अद्भुत कुछ भी नहीं है। न कोई खास किस्म के फूल हैं, न तरह-तरह के रंगों की तितलियां हैं। सुन्दर पत्थर भी वहां नहीं हैं। अपने कलकूजन से चित्त को बेचैन कर डालें, ऐसे छोटे-बड़े प्रपात भला वहां कहां से हों ? वहां है केवल स्निग्ध शांति।

गड़रिये बताते हैं कि मार्कंण्डी बैजनाथ के पहाड़ से आती है। उसका उद्‌गम खोजने की इच्छा मुझे कभी नहीं हुई। हमारे तालुके का नक्शा हाथ में आ जाय तो भी उसमें मार्कण्डी की रेखा मैं नहीं खोजूंगा, क्योंकि वैसा करने से वह सखी मिटकर नदी बन जायगी ! मुझे तो उसके पानी में अपने पांव छोड़कर बैठना ही पसंद है। पानी में पांव डाला कि फौरन उसकी कलकल-कलकल आवाज शुरू हो जाती है। छुटपन में हम दोनों कितनी ही बातें किया करते थे। एक-दूसरे का सहवास ही हमारे आनन्द के लिए काफी हो जाता था। मार्कंण्डी

क्या वता रही है, यह जानने की परवाह न मुझे थी, न मैं जो कुछ बोलता हूं, उसका अर्थ समझने के लिए वह रुकती थी। हम एक-दूसरे से बोल रहे हैं, इतना ही हम दोनों के लिए काफी था। भाई-बहन जब बरसों बाद मिलते हैं, तब एक-दूसरे से हजारों सवाल पूछा करते हैं। किन्तु इन सवालों के पीछे जिज्ञासा नहीं होती। वह तो प्रेम व्यक्त करने का केवल एक तरीका होता है। प्रश्न पूछा और उत्तर क्या मिला, उस ओर ध्यान दे सके, इतना स्वस्थ चित्त भला प्रेम-मिलन के समय कैसे हो!

मार्कण्डी के किनारे-किनारे मैं गाता हुआ घूमता और मार्कण्डी उन गीतों को सुनती जाती। सोलहवें वर्ष की आयु में शिव-भक्ति के बल पर जिन्होंने यमराज को पीछे धकेल दिया, उन मार्कण्डेय ऋषि का उपाख्यान वहां गाते समय मुझे कितना आनंद मालूम होता था!

मृकंडु ऋषि के कोई संतान नहीं थी। उन्होंने तपश्चर्या की और महादेवजी को प्रसन्न किया। महादेवजी ने वरदान में विकल्प रखा:

साधू सुन्दर शाहणा सुत तया सोलाच वर्षें भिती।
जो कां मूढ कुरूप तो शतवरी वर्षें असे स्व-स्थिति।
या दोहींत जसा मनांत रुचला तो घ्यां तुतें दीधला।

(एक लड़का साधुचरित, सुन्दर और सयाना होगा। किन्तु उसकी आयु सिर्फ सोलह साल की होगी। दूसरा मूढ़ और बदसूरत होगा। उसकी आयु सौ साल की होगी। मगर यह उम्रभर जैसा का तैसा ही रहेगा। इन दोनों में से जो तुम्हें पसंद हो, सो मैं दूंगा।)

अब इन दोनों से कौन-सा पसंद करें? ऋषि ने धर्मपत्नी से पूछा, दोनों ने सोचा, बालक भले सोलह वर्ष ही जिये, किन्तु वह सद्‌गुणी हो। वही कुल का उद्धार करेगा। दोनों ने यही वर मांग लिया। मार्कण्डेय उम्र में ज्यों-ज्यों खिलता गया त्यों-त्यों मां-बाप के वदन म्लान होते चले। आखिर सोलह वर्ष पूरे हुए।

युवक मार्कण्डेय पूजा में बैठा है। यमराज अपने पाड़े पर बैठकर

आये, किन्तु शिवलिंग को भेंटे हुए युवा साधु को छूने की हिम्मत उन्हें कैसे हो ? हां-ना करते-करते उन्होंने आखिर पाश फेंका । उधर लिंग से त्रिशूलधारी शिवजी प्रकट हुए और अपनी धृष्टता के लिए यमराज को भला-बुरा बहुत-कुछ सुनना पड़ा । मृत्युंजय महादेवजी के दर्शन करने के बाद मार्कण्डेय को मृत्यु का डर कैसे हो सकता है ? उसकी आयुधारा अबतक बह रही है ।

आगे जाकर जब मैं कालेज में पढ़ने लगा, तब इम्तहान के बाद हमारी भाई-दूज होती । फसल काटने के दिन होते । दो-दो दिन खेत में ही बिताने पड़ते । तब मार्कण्डी मुझे शकरकंदी भी खिलाती और अमृत-जैसा पानी भी पिलाती । जब रात को यह देखने के लिए मैं जाता कि रात को ठंड के मारे वह कांप तो नहीं रही है, तब अपने आईने में वह मुझे मृगनक्षत्र दिखाती थी ।

आज भी जब मैं अपने गांव जाता हूं, मार्कण्डी से बिना मिले नहीं रहता । किन्तु अब वह पहले की भांति मुझसे लाड़ नहीं करती । ज़रा-सा स्मित करके मौन ही धारण करती है । उसके सुकुमार वंदन पर पहले के जैसा लावण्य नहीं है, किन्तु अब उसके स्नेह की गंभीरता बढ़ गई है ।

अगस्त, १९२८

: २ :

पर्वत और उनकी नदियां[1]

(१) हिमालय पर्वत में से उद्गम पानेवाली नदियां—गंगा, सरस्वती, चन्द्रभागा (चिनाव), यमुना, शुतुद्री (सतलज), वितस्ता (झेलम), इरावती (रावी), कुहू (काबुल), गोमती, धूतपापा (शारदा), बाहुदा (राप्ती), दृषद्वती (चितंग), विपाशा (वियास), देविका (दीग), सरयू (घाघरा), रंक्षू (रामगंगा), गंडकी (गंडक), कौशिकी (कोसी), त्रित्या और लोहित्या (ब्रह्मपुत्र)।

(२) पारियात्र याने अरावली पर्वत में से उद्गम पानेवाली नदियां—वेदस्मृति (बनास), वेदवती (बेरछ), वृत्रघ्नी (उतंगन), सिंधु (काली सिंध), वेण्या या वर्णाशा, नंदिनी अथवा चंदना (साबरमती), सदानीरा या सतीरापारा (पार्वती), चर्मण्वती या धन्वती (चंबल), तूपी या रूपा या सूर्य (गंभीर), विदिशा या विदुषा (वेस), वेत्रवती या वेणुमती (बेतवा), शिप्रा या अवर्णी या अवंती।

(३) ऋक्ष पर्वत में से उद्गम पानेवाली नदियां—मंदाकिनी, दशार्णा (धसान), चित्रकूटा, तमसा (तौंस), पिप्पलिश्रोणी (पैसुनी), पिशाचिका, करमोदा या करतोया (कर्मनाशा), चित्रोत्पला या नीलोत्पला, विपाशा या विमला (बेवास), वंजुला या चंचला (जम्नी), बालुवाहिनी (वर्धन), सुमेरुजा या सितेरजा (सोनरबीरमा), शुक्तिमती (केन), शुक्ली या मक्षुणा (सक्री), त्रिदिवा या ह्रदिका और ऋमू या ऋमात (ऋम्ह)।

---

१. भारतीय संस्कृति कोश में से।

(४) विंध्य पर्वत में से उद्गम पानेवाली नदियां—शिप्रा या भद्रा (सिप्रा), पयोष्णी, निर्विध्या (नेवुज), तापी, निषधा या निषधावती (सिंद), वेण्वा या वेणा (वेणगगा), वैतरणी (वैत्रणी), सिनीवाली या शितिवाहू, कुमुद्वती (स्वर्णरेखा), करतोया या तोया (ब्राह्मणी), महागौरी (दामोदर), और पूर्णा, शोण (सोन), महानद (महानदी), और नर्मदा।

(५) सह्य (सह्याद्रि) पर्वत में से उद्गम पानेवाली नदियां—गोदावरी, भीमरथी (भीमा), कृष्णवेण्या (कृष्णा), वेण्या (वेणा), तुंगभद्रा, सुप्रयोगा (हगरी), वाह्या (वरदा), कावेरी और बंजुला (मंजीरा)।

(६) मलय पर्वत में से उद्गम पानेवाली नदियां—कृतमाला (ऋतुमाला, वैगाई), ताम्रपर्णी, पुष्पजा (पुष्पवती, पंबिअर) और सत्पलावती (उत्पलावती, पेरियर)।

(७) महेन्द्र पर्वत में से उद्गम पानेवाली नदियां—पितृसोमा अथवा त्रिसामा, ऋषिकुल्या, इक्षुका या इक्षुला (वहुदा), त्रिदिवा या वेगवती, लांगूलिनी (लांगुलिया) और वंशकरा अथवा वशधरा।

(८) शुक्तिमत पर्वत में से उद्गम पानेवाली नदियां—ऋषिका, कुमारी अथवा सुकुमारी (सुकतेल), मंदगा (मंड), मंदवाहिनी (महानदी), कृपा (अर्प), पलाशिनी (जोंक) और वामन (सुदामा)।

हमारे तीर्थं और नदियों-विषयक साहित्य

- उत्तर भारत के तीर्थं
- दक्षिण भारत के तीर्थं
- देश-दर्शन
- हमारी नदियां
- जय केदारनाथ
- गंगाजी
- कावेरीं
- सप्त सरिता